



## त्रयोदश पाठ

# ब्रह्माण्ड का उद्भव

हम भारतवर्ष में रहते हैं। भारतवर्ष पृथिवी का एक हिस्सा है। यह पृथिवी सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाती है। इसी सूर्य के चारों ओर और भी अनेक ग्रह चक्कर लगाते हैं। इन सबको मिलाकर सौर मण्डल कहा जाता है। ऐसे अनेकानेक सौर मण्डल आकाश में फैले हैं। ये सभी मिलकर ब्रह्माण्ड कहलाते हैं। इस प्रकार हम सब ब्रह्माण्ड के हिस्से हैं। ब्रह्माण्ड से बाहर कुछ भी नहीं है। वेदों में यह सवाल उठाया गया है कि यह ब्रह्माण्ड कैसे बना ? इस सवाल के जवाब में वेद में अनेक सूक्त लिखे गये जिनमें दो सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं-नासदीय सूक्त और पुरुष सूक्त। हम पहले पाठ में पुरुष शब्द समझा चुके हैं। पुरुष का वर्णन जिस सूक्त में है उसे पुरुष सूक्त कहते हैं। नासदीय सूक्त का नाम नासदीय इसलिये पड़ा कि इसके प्रारम्भ में कहा गया है- नासदासीत् अर्थात् न सत् और नही असत्, आसीत् = था। अर्थात् सृष्टि के प्रारंभ में सत् तो नहीं ही था, असत् भी नहीं था। स्पष्ट है कि इस सूक्त में यह जानने की कोशिश की गयी है कि ब्रह्माण्ड की सृष्टि के पहले क्या था ? उत्तर में कहा गया है कि उस समय न असत् था, न सत् था, न कोई क्रिया थी, न आकाश था, न कोई ऐसी चीज थी जो आकाश से भी परे हो। कोई आवरण भी नहीं था, न भोग्य सृष्टि थी न भोक्ता था, न जल था, न मृत्यु, न अमृत, न रात-दिन का ज्ञान था। इस सारे वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में वैदिक ऋषि एक ऐसी स्थिति का वर्णन कर रहा है जब सृष्टि नहीं थी। इसलिये कुछ भी नहीं था। तो यह सृष्टि क्या असत् से उत्पन्न हो गई ? वैदिक ऋषि ने कहा है कि उस समय असत् भी नहीं था। उस समय जो था, उसे वेद ने 'तदेकम्' कहा है। एक का अर्थ स्पष्ट है कि उस समय एक ही तत्त्व था, अनेक नहीं। उस एक तत्त्व का कोई नाम नहीं रखा जा सकता, इसलिये उसके लिये 'तत्' सर्वनाम का प्रयोग हुआ है। इसे ही ब्रह्म कहा जाता है। यह ब्रह्म ही सृष्टि का कारण है। ब्रह्म जिस शक्ति के द्वारा सृष्टि उत्पन्न करता है उस शक्ति का नाम 'स्वधा' है।<sup>1</sup> स्वधा को ही माया कहा जाता है। शक्ति कभी शक्तिमान् से पृथक् नहीं होती। जैसे अग्नि में जो दाहकता की शक्ति है, वह अग्नि से कभी पृथक् नहीं रहती है। इसी प्रकार यह माया शक्ति भी ब्रह्म से कभी पृथक् नहीं रहती है।

ब्रह्म कारण है, विश्व कार्य है। ब्रह्म का नाम इसलिये ब्रह्म है कि उसका विश्व के रूप में बृंहण अर्थात् विस्तार होता है। ब्रह्म को विश्व रूप में परिणत होने के लिये सीमित होना पड़ता है। ऊपर बताया जा चुका है कि ब्रह्म का सीमित रूप ही पुरुष है। माया ही ब्रह्म को सीमित बनाती है। माया का अर्थ ही है सीमित। वेद कहता है कि ब्रह्म अपनी माया शक्ति के साथ सृष्टि के प्रारंभ में था; उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था।

वेद के एक प्रमुख भाष्यकार सायण हुये। उन्होंने चारों वेदों पर संस्कृत में भाष्य लिखा है। इस नासदीय सूक्त पर उनका विस्तृत भाष्य है। उस भाष्य के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति की कहानी कुछ इस प्रकार है—ब्रह्म माया की शक्ति के द्वारा सीमित हो जाता है। वस्तुस्थिति यह है कि हम और आप सब जीव कुछ न कुछ कर्म करते रहते हैं। अच्छे-बुरे उन सभी कर्मों का कुछ न कुछ फल भी होता है। सभी कर्म अपना फल तत्काल नहीं देते हैं। कुछ कर्म अपना फल बहुत लम्बे समय बाद देते हैं। इतनी बात साफ है कि हम अपने कर्मों का फल तभी भोग सकते हैं जब संसार हो। जब ऐसा समय आता है कि जीवों का कोई भी ऐसा कर्म नहीं होता जो अपना फल तत्काल दे सके तब सृष्टि की भी आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि जीवों को जब अपने कर्मों का फल ही नहीं भोगना है तो संसार में होने वाले सुख दुःख कौन भोगेगा ? इसलिये ऐसी स्थिति में जब प्रलय हो जाता है तो उस समय कुछ भी नहीं रहता। उस स्थिति का वर्णन हम ऊपर कर भी चुके हैं। कुछ समय के बाद जीवों के कर्म परिपक्व हो जाते हैं अर्थात् वे इस योग्य हो जाते हैं कि अपना फल दे सकें। बस कर्मों की यह परिपक्वता ही परमात्मा के मन में सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा का कारण बनती है। किन्तु असीम में कोई इच्छा नहीं हो सकती और ब्रह्म असीम है इसलिये इच्छा उत्पन्न होने से पहले माया ब्रह्म के एक हिस्से को ससीम बना देती है। ब्रह्म का ससीम हिस्सा ही पुर कहलाता है जिसमें रहने वाला ब्रह्म पुरुष कहलाता है। इस पुरुष के मन में ही सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा पैदा होती है। किन्तु इस पुरुष का मन हमारे जैसा सामान्य मन नहीं है। इस मन को हम श्वोवसीयस मन कहते हैं। मोटे तौर पर यह समझना चाहिये कि यह मन किसी एक जीवात्मा का मन नहीं है, परमात्मा का मन है।

परमात्मा के इस श्वोवसीयस मन में जो इच्छा उत्पन्न हुई उसे काम कहा जाता है।<sup>१</sup> जब परमात्मा ने सृष्टि बनानी चाही तो उसके सामने ऐसा कोई पदार्थ नहीं था जिससे सृष्टि बनाता इसलिये वह स्वयं ही एक से अनेक हो गया और उसके ही अनेक रूपों को सृष्टि कहते हैं।<sup>२</sup> वेद के एक दूसरे सूक्त पुरुष सूक्त में इस बात को यह कहकर समझाया गया है कि उस पुरुष के भिन्न-भिन्न हिस्से हो गये। इसकी विस्तृत चर्चा हमने पञ्चदश पाठ में की है।

सृष्टि के प्रारंभ में तो अपनी माया शक्ति सहित केवल एक ब्रह्म था। किन्तु जब उपर्युक्त कारण से उसके मन में एक से अनेक होने की इच्छा उत्पन्न हुई तो उस इच्छा से तप उत्पन्न हो गया। हमने पहले दूसरे और तीसरे पाठ में प्राण और मन की चर्चा की है। कामना मन का धर्म है, तप प्राण का व्यापार। सायण ने तप का अर्थ किया है - स्रष्टव्य का पर्यालोचन। अभिप्राय यह है कि जब अव्यय पुरुष के मन में सृष्टि की कामना हुई तो उसने विचार किया कि जो सृष्टि बनाई जानी है वह कैसी हो ? उसका यह विचार करना ही तप कहलाता है। बस इस तप के अनन्तर ही सृष्टि उत्पन्न हुई। इस प्रकार अव्यय पुरुष की कामना ने नाम रूप रहित ब्रह्म से नाम रूपात्मक जगत् को जन्म दे दिया। इस जगत् में प्रकृति भोग्य है, जीव भोक्ता है। सङ्क्षेप में यही एक से अनेक हो जाने की अथवा ब्रह्म से सृष्टि बन जाने की कहानी है। इस कहानी में तीन तत्त्व सृष्टि के मुख्य कारण बनते हैं—जीवों के कर्म, ब्रह्म की शक्ति माया और अव्यय पुरुष की कामना। इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध है। यदि जीवों के कर्म न हों तो अव्यय पुरुष के मन में सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा ही उत्पन्न नहीं

होगी और यदि ब्रह्म की माया शक्ति जो ब्रह्म को सीमित बना देती है, न हो तो भी कामना उत्पन्न नहीं होगी, क्योंकि असीम में तो कामना होती ही नहीं है।

केवल ब्रह्म की कामना से सृष्टि नहीं हो सकती। यह कामना गति को जन्म दे देती है। इस गति का ही नाम ऋषि है। यह गति दो प्रकार की होती है एक अन्तर्मुख गति जिसे विष्णु कहा जाता है और एक बहिर्मुख गति जिसे इन्द्र कहा जाता है। विष्णु की अन्तर्मुख गति से जगत् का पालन होता है क्योंकि वह पदार्थ को पुष्ट करता है। इन्द्र की बहिर्मुखगति से संहार होता है, क्योंकि वह पदार्थ को निर्बल बनाती है। ये इन्द्र और विष्णु दोनों अपना काम करते रहते हैं और इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में विकास और हास दोनों होते रहते हैं। जब तक विष्णु बलवान् होता है पदार्थ विकसित होता रहता है। विष्णु के निर्बल पड़ जाने पर और इन्द्र के बलवान् हो जाने पर पदार्थ में हास होना चालू हो जाता है। अन्ततोगत्वा जब विष्णु बहुत निर्बल पड़ जाते हैं और इन्द्र बहुत शक्तिशाली हो जाते हैं तो पदार्थ नष्ट हो जाता है। इसलिये विष्णु को पालक और इन्द्र को संहारक कहा जाता है। वेद में जो इन्द्र हैं पुराणों में वही शिव है। विष्णु की गति और इन्द्र की आगति के बीच ब्रह्मा पदार्थ की स्थिति बनाये रखते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, महेश ये तीन देव ही संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कारण हैं। इन तीनों को मिलाकर त्रिमूर्ति कहा जाता है। ब्रह्मा का रजोगुण जन्म का कारण है। विष्णु का सत्त्व गुण पालन का कारण है और शिव का तमोगुण संहार का कारण है। एका मूर्तिस्रयो देवा ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वराः।

इन्द्र और विष्णु ही गति-आगति में एक लयबद्धता है। इस लयबद्धता के कारण सृष्टि में एक व्यवस्था है। यदि गति में लयबद्धता न हो तो सृष्टि में सब अव्यवस्थित हो जाये। हमने ऊपर तीन गुणों की चर्चा की—सत्त्व, रजस्, तमस्। इनमें तमोगुण पदार्थ का रूप है, रजोगुण उसमें होने वाली गति है और सत्त्व गुण ज्ञान रूप है। देवों की भाषा में इसे हम इस रूप में कहते हैं कि अग्नि से पदार्थों का निर्माण होता है, वायु से उसमें गति आती है तथा आदित्य से ज्ञान होता है। आत्मा की भाषा में आत्मा के तीन घटक हैं—वाक्, प्राण और मनस्। वाक् का सम्बन्ध पदार्थ से है, प्राण का सम्बन्ध गति से है और मन का सम्बन्ध ज्ञान से है। इन सबकी चर्चा हम दशम पाठ में कर चुके हैं। यहाँ इतना और समझ लेना चाहिये कि जिन पुरुषों की चर्चा हमने की है उनमें अव्यय पुरुष मन से जुड़ा है, अक्षर पुरुष प्राण से और क्षर पुरुष वाक् से।

ऊपर हमने प्रजापति के मन की चर्चा की है। तप के द्वारा उसने यह विचार किया कि सृष्टि का निर्माण कैसा हो ? किन्तु केवल तप से ही सृष्टि का निर्माण नहीं हो पाया। इसके लिये उसे अपने आपको यज्ञ में आहुत करना पड़ा। इसी होम का वर्णन पुरुष सूक्त में है। यज्ञ में जब पुरुष ने स्वयं को आहुत किया और जब सृष्टि उत्पन्न हुई तो वह सृष्टि पुरुष से भिन्न नहीं थी, बल्कि पुरुष ही सृष्टि में परिणत हो गया।

इस सारी सृष्टि की प्रक्रिया में तीन चीजें केन्द्र में थीं—मन, प्राण, वाक्। मन की कामना, प्राण का तप और वाक् का श्रम सृष्टि का कारण बना। तप और श्रम में यह अन्तर है कि तप अन्तर्व्यापार है, श्रम बहिर्व्यापार है। आज भी हम कुछ उत्पन्न करना चाहें तो उसमें तीन ही कदम महत्वपूर्ण होंगे हमारी कामना, हमारा ज्ञान या अन्तर्व्यापार और हमारा कर्म या बहिर्व्यापार। क्योंकि सृष्टि के केन्द्र—

में ये तीन सोपान होते हैं। इसलिये उसके तीन केन्द्र होते हैं। तुम देखोगे कि यदि हम तीन केन्द्रों वाले गोले बराबर- बराबर बनायें तो वह आकृति गोलाकार न होकर अण्डाकार बन जायेगी। बस इसलिये यह विश्व भी अण्डाकार बना, गोलाकार नहीं, क्योंकि उसका एक केन्द्र नहीं था, बल्कि तीन केन्द्र थे। इसलिये विश्व का नाम ब्रह्माण्ड है। संक्षेप में ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति की यही कहानी है।

### प्रश्न

१. विश्व के उत्पन्न करने में ब्रह्म तथा उसकी शक्ति माया का क्या योगदान है ?
२. परमात्मा सृष्टि को उत्पन्न करने की इच्छा क्यों करता है ?
३. पुरुष के तप का क्या रूप है ?
४. कामना से सृष्टि कैसे होती है ?
५. ब्रह्माण्ड अण्डाकार क्यों है ?

### स्मरणीय उद्धरण

१. आनीदवातं स्वधया तदेकम् ।-ऋग्वेद  
अर्थ: सृष्टि के प्रारंभ में वह एक ब्रह्म अपनी शक्ति सहित वायु के बिना (अर्थात् क्रियारहित) श्वसन कर रहा था।
२. कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।-ऋग्वेद  
अर्थ: सृष्टि के प्रारम्भ में कामना हुई जो मन की प्रथम शक्ति थी।
३. एकं वा इदं विबभूव सर्वम् ।-ऋग्वेद  
अर्थ: एक ही वह यह सब कुछ बन गया।
४. प्रजापतिरकामयत सोऽश्राम्यत् स तपोऽतप्यत् ।- शतपथ ब्राह्मण  
अर्थ: प्रजापति ने कामना की, उसने श्रम किया, उसने तप किया।

## चतुर्दश पाठ

# सृष्टि की आयु तथा चार युग

वेदों में सृष्टि के सम्बन्ध में चार प्रश्नों पर विस्तार से विचार हुआ है १. सृष्टि किससे बनी, २. सृष्टि कैसे बनी, ३. सृष्टि क्यों बनी, ४. सृष्टि कब बनी । हम इन प्रश्नों में से इस अन्तिम प्रश्न पर विचार करें कि सृष्टि कब बनी । इसी प्रश्न के उत्तर पर इस प्रश्न का उत्तर भी निर्भर करता है कि सबसे पुराना संवत्सर कौन सा है ? इस सबसे पुराने संवत्सर को सृष्टि संवत्सर कहा जाता है क्योंकि इसका प्रारम्भ तब हुआ जब सृष्टि का प्रारम्भ हुआ । वस्तुतः यही संवत्सर अन्तर्राष्ट्रीय संवत्सर होना चाहिए क्योंकि इस संवत्सर का सम्बन्ध किसी एक देश की किसी घटना विशेष से या किसी एक व्यक्ति विशेष से न जुड़ा होकर पूरी सृष्टि से जुड़ा है । अभी १९९४ ईसवी में इस संवत्सर का १९६०८५३०९४ वाँ वर्ष चल रहा है । प्रश्न हो सकता है कि इतने पुराने संवत्सर का आधार क्या है ।

इस सृष्टि संवत्सर की गणना प्रत्येक भारतीय आज भी हर शुभ कार्य के प्रारम्भ में संकल्प लेते समय करता है, यह दूसरी बात है कि अज्ञानवश वह यह समझ न पाता हो कि वह क्या कह रहा है ? उदाहरणतः १-१-१९९५ को कोई व्यक्ति शुभ कार्य करने से पहले जो वाक्य संस्कृत में बोलेगा अथवा पुरोहित उसकी ओर से जो वाक्य बोलेगा उसका एक अंश इस प्रकार होगा—आज ब्रह्मा के द्वितीय परार्ध में श्री श्वेतवराहकल्प में वैवस्वत मन्वन्तर में २८वें कलियुग के प्रथम चरण में अमुक कार्य करूँगा । इस वाक्य का अर्थ समझ लेने से यह स्पष्ट हो जायेगा कि सृष्टि को बने कितने वर्ष हो गये । इस वाक्य का अर्थ समझने के लिए सर्वप्रथम यह जानना होगा कि जिस वर्ष से हम परिचित हैं उसका आधार पृथ्वी का सूर्य के चारों ओर परिभ्रमण करना है, किन्तु इस हमारे चिरपरिचित वर्ष के अतिरिक्त भी कुछ अन्य वर्ष हैं ।

### तीन प्रकार के अहोरात्र

हमारे वर्ष की इकाई एक दिन-रात है जो २४ घंटे का होता है तथा जिसका प्रकाशमय भाग दिन कहलाता है और अन्धकारमय भाग रात कहलाता है । इस प्रकार के प्रकाशमय तथा अन्धकारमय विभाजन दो और हैं—शुक्ल पक्ष तथा कृष्ण पक्ष एवं उत्तरायण तथा दक्षिणायन । शुक्लपक्ष तथा कृष्णपक्ष १५-१५ दिन के एवं उत्तरायण तथा दक्षिणायन—६-६ मास के हैं । इन दोनों को एक-एक दिन रात मानकर भी वर्ष की गणना की है । शुक्लपक्ष-कृष्णपक्ष के अहोरात्र से पितरों का वर्ष बनता है तथा उत्तरायण-दक्षिणायन के अहोरात्र से देवताओं का वर्ष बनता है । पितरों के दिन-रात के बारे में यह बात ध्यान रखने की है कि वहाँ पितरों के लिए अन्धकारमय कृष्णपक्ष दिन है तथा प्रकाशमय शुक्लपक्ष रात है ।

## चार युग

जहाँ तक देवताओं के वर्ष का प्रश्न है वह उत्तरायण-दक्षिणायन के अहोरात्र से बनता है अतः उसका एक दिन रात एक वर्ष का है । वह दिव्य वर्ष ३६० वर्षों का होता है । इस ३६० वर्षों के वर्ष को हम दिव्य वर्ष कहेंगे तथा अपने चिरपरिचित वर्ष को हम मानुष वर्ष कहेंगे । मनुष्य की आयु मानुष वर्षों में नापी जाती है, देवताओं की आयु दिव्य वर्षों से नापी जाती है । मनुष्य की आयु १०० वर्ष की है, देवताओं की आयु १००० दिव्य वर्षों की है ।

इस प्रकार एक देवता की आयु मानुष वर्षों में  $३६० \times १००० = ३६००००$  वर्षों की हुई । १०० वर्षों का एक मानुष युग होता है, ३६०००० वर्षों का एक दिव्य युग होता है । दस दिव्य युगों की एक चतुर्युगी होती है, कृतयुग में ४ दिव्य युग, त्रेता में ३, द्वापर में २ तथा कलियुग में १ दिव्य युग होता है ।

दिव्य युग को ३६०००० से गुणा करने पर मानुष वर्ष निकल आते हैं । इस प्रकार चारों युगों के वर्ष इस प्रकार होंगे ।

कृतयुग १४,४०,००० वर्ष

त्रेतायुग १०,८०,००० वर्ष

द्वापरयुग ७,२०,००० वर्ष

कलियुग ३,६०,००० वर्ष

यह गणना केवल दिन रात के आधार पर की गई है । दिन रात के साथ-साथ प्रातः सायम् के दो सन्ध्या काल और हैं । इस सन्ध्याकाल के भी ४,३,२,१ के अनुपात से बंटने पर चारों युगों के सन्ध्याकाल क्रमशः  $४०० + ४०० = ८००$ ,  $३०० + ३०० = ६००$ ,  $२०० + २०० = ४००$  तथा  $१०० + १०० = २००$  दिव्य वर्ष होंगे । इन दिव्य वर्षों की मानुष वर्षों में बदलने पर क्रमशः २८८०००, २१६०००, १४४०००, ७२००० वर्ष होंगे । इन्हें उपर्युक्त दिनरात के वर्षों में जोड़ देने पर चारों युगों के वर्ष इस प्रकार होंगे ।

कृतयुग =  $१४४०००० + २८८००० = १७२८०००$  वर्ष

त्रेता युग =  $१०८०००० + २१६००० = १२९६००$  वर्ष

द्वापर युग =  $७२०००० + १४४००० = ८६४०००$  वर्ष

कलियुग =  $३६०००० + ७२००० = ४३२०००$  वर्ष

इन चारों युगों की एक चतुर्युगी ४३२०००० वर्षों की होगी । यह एक चतुर्युगी सूर्य की आयु का एक वर्ष है । ऐसे-ऐसे वर्षों वाली सूर्य की १००० वर्षों की आयु है, अर्थात् सूर्य की पूर्णायु

$४३२०००० \times १००० = ४३२०००००००$  मानुष वर्षों की है । इस पूर्णायु के कितने अंश सूर्य अब तक भोग चुका, यह प्रश्न मन्वन्तर की कालावधि से जुड़ा है ।

### पन्द्रह मन्वन्तर

सूर्य की पूर्णायु को १५ से विभाजित करने पर एक मन्वन्तर निकलता है । १५ से विभक्त इसलिए किया जाता है कि एक पक्ष में १५ ही अहोरात्र होते हैं । सूर्य पूर्णायु में सहस्र चतुर्युगी है । प्रथम १४ मन्वन्तरों में एक-एक मन्वन्तर में ७१-७१ चतुर्युगी है । इस प्रकार १४ मन्वन्तरों में  $७१ \times १४ = ९९४$  चतुर्युगी बीत जाती हैं । शेष ६ चतुर्युगी १५वें मन्वन्तर में रहती है । उपर्युक्त सङ्कल्प सूत्र के अनुसार अभी ६ मन्वन्तर बीत कर सातवां मन्वन्तर चल रहा है । इसी सातवें मन्वन्तर का नाम वैवस्वत मन्वन्तर है । जो ६ मन्वन्तर बीत चुके उनकी  $७१ \times ६ = ४२६$  चतुर्युगी हुई । एक चतुर्युगी  $४३२००००$  वर्षों की है । अतः ६ मन्वन्तर के  $४३२०००० \times ४२६ = १८४०३२००००$  मानुष वर्ष हुए । ७वें वैवस्वत मन्वन्तर के भी २७ चतुर्युग बीत चुके हैं अर्थात्  $४३२०००० \times २७ = ११६४००००$  मानुष वर्ष। २८वीं चतुर्युगी के भी तीन युग अर्थात्  $१७२८००० + १२९६०० + ८६४००० = ३८८८०००$  मानुष वर्ष बीत गये हैं । कलियुग के ४३२००० वर्षों को चार चरणों में बांटा गया है । एक चरण १०८००० वर्षों का हुआ इनमें प्रथम चरण के अभी ५०९१ वर्ष गुजरे हैं । इस प्रकार सृष्टि को बने अभी ६ मन्वन्तर (१८४०३२०००० वर्ष) २७ चतुर्युगी (११६६४०००० वर्ष) एक युगत्रयी (३८८८००० वर्ष) तथा कलियुग के प्रथम चरण के ५०९४ वर्ष बीत चुके हैं । इनका कुल योग १९६०८५०९१ वर्ष की सूर्य की अब तक की आयु है । यही सृष्टि संवत्सर है जो संसार का सबसे पुराना संवत्सर है क्योंकि सूर्य की उत्पत्ति से पूर्व हमारे परिचित संवत्सर की कल्पना ही नहीं कर सकते । सूर्य के पूर्णायु ४३२००००००० वर्ष में से वर्तमान आयु के १९६०८५३०९१ वर्ष निकाल देने पर सृष्टि की शेष आयु २३५९१४६९०९ वर्ष निकल आती है ।

### विज्ञान की पहुंच से परे

स्वयं सूर्य भी एक पिण्ड की परिक्रमा कर रहा है । उस पिण्ड का ही नाम परमेष्ठी मण्डल है । सूर्य का काल मूर्त है, परमेष्ठी मण्डल का काल मूर्तामूर्त है । उस मूर्तामूर्त काल तक वर्तमान विज्ञान की गति नहीं है । इस परमेष्ठी मण्डल का एक दिन ४३२००००००० मानव वर्षों का है, अर्थात् सौरमण्डल की पूर्णायु परमेष्ठी मण्डल का एक दिन है । हमारी सृष्टि जितने समय तक रहती है उतने समय में परमेष्ठी मण्डल का एक दिन मात्र बीतता है । ४३२००००००० वर्षों का सृष्टिकाल है, तो इतने ही वर्षों का प्रलयकाल है । यह प्रलयकाल परमेष्ठीमण्डल की रात्रि है । इस प्रकार परमेष्ठी मण्डल का एक अहोरात्र ८६४००००००० वर्षों का है । यह अहोरात्र ब्राह्म अहोरात्र कहलाता है । इसे ३६० से गुणा करने पर ब्राह्म वर्ष का समय आयेगा तथा उसे १०० से गुणा करने पर परमेष्ठी मण्डल की पूर्णायु अर्थात्  $८६४०००००००० \times ३६० \times १०० = ३११०४०००००००$  मानुष वर्ष । यह एक ब्राह्म युग हुआ । ऐसे १००० ब्राह्म युगों की कल्पना करके परमेष्ठी



मण्डल में भी चतुर्युग व्यवस्था तथा मन्वन्तर व्यवस्था की जा सकती है । किन्तु हमारे द्वारा आविष्कृत संख्याओं का अतिक्रमण करने के कारण वह संख्या अंसख्य होगी, यद्यपि वह अनन्त नहीं है ।

### विश्व का मूल स्वयम्भू

परमेष्ठीमण्डल भी स्वयम्भू मण्डल की परिक्रमा करता है, अतः वहाँ कालागणना की कल्पना की जा सकती है, किन्तु स्वयम्भू मण्डल किसी की परिक्रमा नहीं करता, अतः वहाँ काल अमूर्त ही रह जाता है । इस प्रकार सूर्य का काल मूर्त, परमेष्ठी का मूर्तामूर्त तथा स्वयम्भू का अमूर्त है । इनमें स्वयम्भू का अमूर्तकाल “ऋजुकाल” महाकाल कहलाता है, परमेष्ठी का मूर्तामूर्तकाल “ऋतकाल” कराल काल कहलाता है तथा सूर्य का मूर्तकाल “कुटिलकाल” रोहितकाल कहलाता है । ये नाम तत्तत् काल के स्वरूप पर प्रकाश डालने वाले हैं । उदाहरणतः सूर्य के काल को सूर्य की लोहित रश्मियों से जुड़े होने के कारण लोहित कहा गया है । ये तीनों ही काल भातिसिद्ध हैं, इन तीनों का आदि तथा अन्त है । किन्तु सत्तासिद्ध काल किसी भी पिण्ड के द्वारा किसी अन्य पिण्ड की परिक्रमा की अवधि से नहीं नापा जाता । उसका न आदि है न अन्त । उस काल को तो अथर्ववेद ने सबका ईश्वर तथा प्रजापति का भी पिता बताया है—

कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः

### काल की केन्द्रस्थता

प्रश्न है कि अथर्ववेद ने काल की अनन्तता को ही लक्ष्य में रखकर काल को सर्वेश्वर तथा प्रजापति का पिता बता दिया अथवा काल के इस स्तुतिगान का कोई अन्य कारण भी है ? वस्तुस्थिति यह है कि काल की इस स्तुति का मुख्य कारण कुछ और ही है । सृष्टिक्रम में सर्वोच्च स्थिति उस अव्यय पुरुष की है जो सृष्टि का साक्षीमात्र है । अक्षर पुरुष सृष्टि का निमित्त कारण है तथा क्षर पुरुष सृष्टि का उपादान कारण है । इन तीनों की पाँच-पाँच कलायें हैं । ये १५ कलायें परात्पर से जुड़कर षोडशकल पुरुष बनती है जिसका वैदिक साहित्य में बारम्बार उल्लेख है । यहाँ प्रासङ्गिक अव्यय पुरुष की पाँच कलायें हैं—आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण तथा वाक्। इन्हीं पाँच कलाओं को उपनिषद् पाँच कोश कहते हैं । इन ५ कलाओं के मध्य में मन है जिसके एक ओर आनन्द विज्ञान तथा दूसरी ओर प्राणवाक् है । स्पष्ट है कि मन केन्द्र में है । काल का सम्बन्ध अव्यय पुरुष की इसी केन्द्रस्थ कला मन से है । मन की शक्ति ज्ञान है, प्राण की शक्ति क्रिया तथा वाक् की शक्ति अर्थ है । मन, प्राण तथा वाक् की यह त्रिपुटी ही विश्व के सब पदार्थों का निर्माण करती है । मन रूप को प्राण कर्म को तथा वाक् नाम को बनाती है । किसी भी पदार्थ में ये तीन ही मनोता—जिन्हें अंग्रेजी में कान्स्टीट्यूअन्ट कह सकते हैं—रहते हैं । इन तीनों मनोताओं में मन मुख्य है । ये मन जब सौर तत्त्व से जुड़ता है तो इसका नाम मनु हो जाता है जो कि मन्वन्तरों का निर्माण करता है । ये मन्वन्तर ही कालावधि के मापक बनते हैं ।

## काल, दिक्, देश

जिस प्रकार अव्ययपुरुष का ज्ञानशक्ति-घन-मनस्तत्त्व सौर तत्त्व से जुड़कर मनुरूप में काल को जन्म देता है, उसी प्रकार अव्ययपुरुष का क्रियाशक्तिघन प्राणतत्त्व दिक् को तथा अर्थशक्तिघन वाक्तत्व देश को जन्म देता है । ये काल दिक् देश की त्रयी ही सृष्टि के मूल में है । इनमें केन्द्रस्थ मन से सम्बन्ध होने के कारण काल मुख्य है । जहां तक विज्ञान तथा आनन्द कलाओं का सम्बन्ध है वे सृष्टि में नहीं, प्रत्युत मुक्ति में सहायक होती हैं । सृष्टि क्रम में तो मन काल के माध्यम से आयु, को, प्राण दिक् के सम्बन्ध से ज्योति को तथा वाक् देश के माध्यम से गौ को बनाता है । इन तीनों को वैदिक परिभाषा में आयुष्टोम, ज्योतिष्टोम तथा गोष्टोम यज्ञ कहा जाता है । आयुष्टोम हमारी आत्मा का ज्योतिष्टोम इन्द्रियों का तथा गोष्टोम शरीर का स्वरूप निर्धारित करता है । सङ्क्षेप में इसी प्रक्रिया द्वारा अव्ययपुरुष से हम जुड़े हुए हैं । आत्मा के बिना शरीर तथा इन्द्रियों का कोई अर्थ नहीं है । इसी प्रकार काल के बिना दिक्-देश सब निरर्थक है । अतः इन तीनों में काल ही प्रधान है । वस्तुतः सत्तासिद्ध काल तो स्वयं अव्ययपुरुष ही है । इसीलिए तो गीता में कृष्ण ने अपने को काल बताया है

- कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः ।

## तीन सर्ग

काल, दिक् तथा देश क्रमशः तीन सृष्टियों के जन्मदाता हैं—कालसर्ग, दिक्सर्ग तथा देशसर्ग । कालसर्ग, पुरुषसर्ग, ब्रह्म-सृष्टि अथवा ऋषिसृष्टि कहलाती है । दिक् सर्ग प्रकृति सर्ग, यज्ञ सृष्टि अथवा देव सृष्टि कहलाती है । देशसर्ग, विकृतिसर्ग, मैथुनी सृष्टि अथवा पितृसृष्टि कहलाती है । हम अधिकतर देश सर्ग से ही परिचित हैं । यदि कदाचित् कालसर्ग अथवा दिक् सर्ग की झलक देखने को हमें मिल जाये तो हम उसे चमत्कार अथवा अन्धविश्वास की कोटि में डाल देते हैं क्योंकि वह हमारी समझ से परे है । इनमें मानसी सृष्टि तो अमूर्त है, प्राण सृष्टि तथा वाक् सृष्टि ही मूर्त हैं । अमूर्त का प्रतीक स्वयम्भू है, मूर्त का प्रतीक सूर्य । परमेष्ठी दोनों के बीच की कड़ी है । ये मन, प्राण तथा वाक् हमारे व्यक्तित्व में क्रमशः कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर हैं, जबकि व्यष्टि में ये ही क्रमशः सूर्य, चन्द्र तथा पृथ्वी हैं—यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे ।

जिसे हम चमत्कार कोटि में डाल देते हैं वे देवविभूतियां हैं, जिनका सम्बन्ध प्राणकाल से है । हमारे दैनन्दिन अनुभव में आने वाला भूतसर्ग है, जिसका सम्बन्ध भूतकाल से है । देवविभूतियां केवल कालावच्छिन्न हैं, दिक्-देश से वे अस्पृष्ट हैं । भूतसर्ग दिक्-देश-काल तीनों से अवच्छिन्न है ।

## कालजय

संवत्सरविद्या का वास्तविक प्रयोजन काल पर विजय पाना है । स्वयंभू परमेष्ठी ही अमृत लोक है । इन दोनों को अपुनर्मार कहा गया है । चन्द्र तथा पृथ्वी मर्त्य हैं । सूर्य इन दोनों के बीच

मर्त्यामर्त्य रूप है । प्राणसूर्य अमृत है, भूतसूर्य मर्त्य है । साधक प्राण-सूर्य से सम्बन्ध जोड़कर अमृतत्व से जुड़ता है । यह प्रक्रिया रहस्यविद्या का अंग है किन्तु इस रहस्यविद्या का मूल आधार एक ही है जो सर्वजनबोध्य है—दूरदर्शिता से दूरगामी हित को देखो, तात्कालिक सुख के पीछे दीर्घकालिक हित की उपेक्षा मत करो । तात्कालिक सुख लुभावने प्रतीत होते हैं, किन्तु वे दीर्घकालिक हितों के विरोधी होते हैं । जो उन तात्कालिक सुखों पर विजय नहीं पा सकता, वह काल के वशीभूत हो जाता है किन्तु जो उन पर विजय पा लेता है वह काल को जीत लेता है । काल को जीतने का एक सरल उपाय है—काल के आर-पार देख पाना ।

आज हम तत्काल सुख चाहते हैं । व्यक्ति के स्तर पर इसका परिणाम भ्रष्टाचार है । सामूहिक स्तर पर इस लघुदर्शिता का परिणाम प्रकृति के सन्तुलन को बिगाड़ना है । तात्कालिक लाभ के लिए व्यक्ति व्यक्ति की हत्या कर सकता है । आज कोई अपने को सुरक्षित नहीं मान रहा । तुच्छ संकीर्ण स्वार्थों के वशीभूत आतंकवादी, पृथक्तावाद को पारमार्थिक सत्य मान रहे हैं । इधर लोभवश जंगल अन्धाधुन्ध कट रहे हैं । पर्यावरण दूषित हो रहा है । हम ओजोन की परत को क्षतिग्रस्त बनाने के दुष्परिणामों से चिन्तित हैं, किन्तु जिन कारणों से यह क्षति हो रही है उन कारणों के निवारण की बात करने को कोई तैयार नहीं, क्योंकि हम रेफ्रिजरेटर जैसी कुछ सुविधाओं के दास हो गये हैं ।

हम एक सङ्कल्प लें—कालजयी बनने का । कालबद्ध सुख के आकर्षण को छोड़कर कालातीत आनन्द में डूब सकें तो आने वाला युग हमारे लिये सचमुच नूतनता ला सकता है ।

### कलियुग के तीन प्रकार

प्रायः वर्तमान की परिस्थिति का दायित्व हम कलियुग पर डाल देते हैं । कलियुग वर्तमान में है, किन्तु कलियुग पर हमारी कमजोरियों की जिम्मेदारी नहीं डाली जा सकती । प्रत्येक युग तीन प्रकार का होता है — व्यक्तिगत, समष्टिगत तथा प्राकृतिक । युगों की एक परिभाषा है — सोना कलियुग है, अंगड़ाई लेना द्वापर है, उठ खड़े होना त्रेता है, गतिशीलता कृतयुग है—

*कलिः शयानो भवति, संजिहानस्तु द्वापरः ।*

*उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति, कृतं सम्पद्यते चरन् ॥*

यह व्यक्तिगत युग की व्याख्या है । जब मैं आलस्य में हूँ तो वह मेरा कलियुग है, जब मैं पुरुषार्थ में लगा हूँ तो वह मेरा सतयुग है । १९९५ में ही आलसी प्राणी कलियुग भोगेंगे तथा उसी समय पुरुषार्थी कृतयुग का आनन्द लेंगे ।

समष्टिगत युग का कारण हमारा सामूहिक प्रयास है । यह प्रयास हम राज्य संस्था द्वारा करते हैं । जिन देशों की सरकारें व्यवस्था बनाये रखेंगी, न्याय की स्थापना करेंगी, उन राष्ट्रों में कृतयुग प्रवृत्त होगा, जहाँ व्यवस्था गड़बड़ायेगी, अन्याय होगा, वहाँ कलियुग रहेगा । इस समष्टिगत युग को सुधारने की जिम्मेदारी सरकार पर है । इसीलिए महाभारत ने स्पष्ट घोषणा की है कि राजा ही युग का निर्माण करता है—राजा कालस्य कारणम् । इस प्रकार व्यक्तिगत तथा समष्टिगत युग का निर्माण हमारा व्यक्तिगत पुरुषार्थ तथा समष्टिगत प्रयत्न करता है । जिस कलियुग की चर्चा हम

अपने सङ्कल्प सूत्र में करते हैं वह कलियुग प्रकृतिगत है तथा उस पर हमारा कोई अधिकार नहीं है। किन्तु उस प्राकृतिक कलियुग के काल में हम व्यक्तिगत पुरुषार्थ द्वारा तथा सामाजिक सुव्यवस्था द्वारा अभी और यहीं अपने लिए कृतयुग ला सकते हैं।

### प्रश्न

१. मानव वर्ष, पितृवर्ष तथा दिव्य वर्ष क्या हैं ?
२. मन्वन्तर क्या है ?
३. सूर्य की पूर्णायु कितनी है ?
४. कालजय का क्या अर्थ है ?
५. कलियुग तीन प्रकार का कैसे है ?

### स्मरणीय उद्धरण

१. कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।  
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन् ॥ - ऐतरेय ब्राह्मण

अर्थ : लेटा हुआ कलि है, अंगड़ाई लेना द्वापर है, खड़ा हो जाना त्रेता है तथा चरणशील सतयुग है।

२. सङ्कल्प—विष्णुर्विष्णुर्विष्णुः श्रीमद्भगवतो महापुरुषस्य विष्णोराज्ञया प्रवर्तमानस्य अद्य ब्रह्मणः द्वितीये परार्द्धे श्रीश्वेतवराहकल्पे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे—

अर्थ : विष्णु विष्णु विष्णु, श्रीमान् भगवान् महापुरुष विष्णु की आज्ञा से प्रवर्तमान ब्रह्मा के द्वितीय परार्ध में श्रीश्वेतवराहकल्प में वैवस्वत मन्वन्तर में अट्ठाईसवें कलियुग में कलि के प्रथम चरण में—

## पञ्चदश पाठ

# पुरुष सूक्त (ऋग्वेद-१०.९०)

पुरुष की अवधारणा देश और काल से बंधी हुई है। जो भी देश काल से बंधा है वह ससीम कहलाता है। जो देशकाल से परे है वह अससीम है। देशकाल से बंधे हुए का पारिभाषिक नाम पुर है। उस पुर में रहने वाला पुरुष कहलाता है। इस पुरुष से ही सृष्टि होती है। पुरुष शब्द और भी अनेक प्रकार से बनाया जा सकता है—

१. पुरुधा = अनेकत्र, स्यति = व्यवसाय करता है।  
अर्थात् जिसके बिना कुछ भी क्रिया नहीं होती वह पुरुष है।
२. पुरा = पूर्व, रुष्यति = हिंसित है।  
अर्थात् निःसीम का सीमाकरण द्वारा हिंसित होना ही पुरुष है।
३. पूर्षु = पुरों में, रुष्यते = बन्धा है।  
अर्थात् पुरों में सीमित हो जाना ही पुरुष है।
४. पुरा औषत = जला देने वाला मृत्युमय माया बल से तिरस्कृत ही पुरुष है।

इन सभी व्युत्पत्तियों में मुख्य बात यह है कि परम तत्त्व स्वयं निःसीम है। वह अपनी इच्छा से ही सृष्टि बनाने के लिए सीमित हो जाता है। यह सीमित पुरुष ही सृष्टि का निर्माण करता है। पुरुष से सृष्टि कैसे बनती है? इसका वर्णन इस पुरुष सूक्त में है। इस पुरुष सूक्त का देवता पुरुष माना गया है। ऋषि नारायण है। इस पुरुष सूक्त की सब ऋचाओं में तो त्रिष्टुप् छन्द है, केवल अन्तिम सोलहवीं ऋचा में अनुष्टुप् छन्द है। इतनी भूमिका के बाद अब हम इस पुरुष सूक्त के प्रत्येक मन्त्र की व्याख्या करेंगे।

पहला मन्त्र इस प्रकार है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥

इस मन्त्र का शब्दार्थ यह है कि पुरुष के हजार सिर हैं, हजार आँखें हैं तथा हजार पाँव हैं। यह भूमि को चारों ओर से घेरने के बाद भूमि से अतिरिक्त भी दशाङ्गुल तक है।

यहाँ सहस्र सिर, सहस्र आँख और सहस्र पाँव में “सहस्र” हजार को नहीं बताता बल्कि अनन्त को बताता है । यदि सहस्र का अर्थ हजार होता तो जिसके हजार सिर है उसकी आँखें और पाँव दो दो हजार होने चाहिये थे, क्योंकि वह काणा या लंगड़ा तो है नहीं । इसलिए अभिप्राय यह मानना पड़ेगा कि उसके सिर, आँखें और पाँव अनन्त हैं । अभिप्राय यह है कि सृष्टि को बनाने वाले पुरुष को हम इस दृष्टि से ससीम कहते हैं कि वह देश और काल में बंधा है । लेकिन क्योंकि हम उसके ओर छोर का पता नहीं पा सकते इसलिए वह अनन्त है । इस मन्त्र में उसके तीन अंगों का उल्लेख है सिर, आँख और पाँव । सिर से हम सोचते हैं, यह ज्ञान का वाचक है । आँख से हम देखते हैं, यह क्रिया में सहायक है । पाँव पर हम टिके हैं, यह हमारे शरीर का आधार है । वैदिक त्रैतवाद में किसी पदार्थ के तीन ही पक्ष होते हैं—पदार्थ का पिण्ड, उसमें होने वाली क्रिया और उसका ज्ञान । यहाँ पाद, चक्षु और शीर्ष शब्द से इन तीनों का बोध होता है अर्थात् वह पुरुष सृष्टि के पदार्थों का पिण्ड भी बनाता है और उन पिण्डों में क्रिया और ज्ञान भी पैदा करता है ।

यहाँ यह भी अभिप्रेत है कि वह पुरुष सृष्टि के ज्ञान मूलक अव्यक्त अंश को भी बनाता है, क्रियामूलक व्यक्ताव्यक्त अंश को भी बनाता है और अर्थमूलक व्यक्त अंश को भी बनाता है ।

वह पुरुष समस्त पृथिवी में व्याप्त है और इससे परे भी है । यह कहने का यह अभिप्राय है कि वह ससीम रूप में पूरी सृष्टि में व्याप्त है, किन्तु अससीम रूप में सृष्टि से बाहर भी है । वह सृष्टि के रूप में व्यक्त है और सृष्टि से परे जो उसका स्वरूप है, वह अव्यक्त है ।

### सूक्त की दूसरी ऋचा इस प्रकार है—

पुरुष एवेदं सर्वं यदभूतं यच्च भव्यम् ।

उतामृतत्वस्येशानौ यदन्नेनातिरोहति ॥

मंत्र का शब्दार्थ इस प्रकार है कि जो कुछ हो चुका है या होने वाला है वह पुरुष ही है । वह अमृत का भी स्वामी है और उनका भी स्वामी है जो अन्न से बढ़ते हैं ।

भूत और भविष्य से काल का बोध होता है । अभिप्राय यह है कि जो भी काल से बँधा है वह पुरुष ही है । वस्तुतः पुरुष ही जगत् के रूप में परिणत हुआ है और सारा जगत् काल से बँधा हुआ है इसलिए समस्त जगत् पुरुष ही है । अमृत नामः प्राण का है । अन्न से शरीर बढ़ता है । प्राण के स्वामी के रूप में पुरुष अक्षर कहलाता है । शरीर के रूप में वही पुरुष क्षर कहलाता है । आज की भाषा में कहें तो वह पुरुष ऊर्जा का भी स्वामी है और पदार्थ का भी स्वामी है ।

### तीसरी ऋचा इस प्रकार है—

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः ।

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

ऋचा का शब्दार्थ यह है कि पुरुष की ऐसी महिमा है और पुरुष इससे भी अधिक बड़ा है। ये समस्त भूत उसके अंश मात्र है। उसके तीन पाद अमृत रूप हैं जो द्यौ में हैं। अभिप्राय यह है कि जितनी ऊर्जा और पदार्थ है वह तो पुरुष का एक बहुत छोटा सा हिस्सा है। उसका बहुत बड़ा भाग तो मन रूप अव्यय पुरुष है। उससे भी बड़ा कहीं निःसीम परात्पर है। हम तो क्षर और अक्षर पुरुष का ही ओर छोर नहीं जान पाते फिर अव्यय पुरुष और परात्पर पुरुष की तो बात ही क्या ?

क्षर, अक्षर और अव्यय पुरुष का रूप पिछले पाठ में बता चुके हैं। अव्यय पुरुष मन-प्रधान है, अक्षर प्राण-प्रधान है और क्षर भूत-प्रधान है। अक्षर ने क्षर पुरुष द्वारा सृष्टि बनाई। अव्यय पुरुष केवल आलम्बन के रूप में द्रष्टा ज्ञाता बना रहा। अक्षर क्षर की अपेक्षा सूक्ष्म है अक्षर की अपेक्षा अव्यय सूक्ष्म है, परात्पर तो देशकाल से परे होने के कारण चिन्तन अथवा वाणी का विषय ही नहीं बन पाता।

### चतुर्थ ऋचा—

त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।

ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥

शब्दार्थ यह है कि इस पुरुष के तीन पाँव तो ऊपर रहे, एक पाँव इस विश्व में व्याप्त हो गया। वह जड़ और चेतन सबमें व्याप्त हो गया। अभिप्राय यह है कि उस पुरुष का बहुत बड़ा भाग सृष्टि रूप में परिणत हुआ। दूसरी बात महत्वपूर्ण यह है कि वह पुरुष केवल चेतन रूप में ही परिणत नहीं हुआ, जड़ रूप में भी परिणत हो गया। जड़ और चेतन में मौलिक भेद नहीं है, दोनों पुरुष के ही रूप हैं।

### पांचवीं ऋचा—

तस्माद्द्विराळजायत विराजो अधिपुरुषः ।

स ज्ञातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥

शब्दार्थ यह है कि उस पुरुष से विराट् उत्पन्न हुआ तथा उस विराट् से पुरुष उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होते ही वह भूमि का और पुर का अतिक्रमण कर गया। विराट् का अर्थ है प्रकृति। पुरुष स्वरट् है, प्रकृति विराट्। प्रकृति पुरुष से भिन्न नहीं है पुरुष से ही उत्पन्न हुई। फिर इस प्रकृति से व्यष्टि पुरुष उत्पन्न हुआ। इस व्यष्टि पुरुष ने ही पृथिवी को और पुर को धारण किया।

## छठी ऋचा—

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।

वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्द्विविः ॥

शब्दार्थ बहुत स्पष्ट है । देवताओं ने पुरुष को हवि बनाकर यज्ञ किया । इस यज्ञ में वसन्त घृत बना । ग्रीष्म समिधा बनी और शरद् हवि बनी ।

यज्ञ सर्जन का प्रतीक है । सर्जन में सिग्घता रूक्षता और तटस्थता तीनों की आवश्यकता रहती है । यहाँ घृत सिग्घता का प्रतीक है, समिधा रूक्षता का प्रतीक है और हवि तटस्थता का प्रतीक है । सिग्घ आकृष्ट करता है, रूक्ष विकर्षण करता है और तटस्थ मध्यस्थ बना रहता है । इन तीनों भावों से मिलकर सृष्टि चल रही है । प्रकृति के ऋतु चक्र में वसन्त में आकर्षण है इसलिए यहाँ वसन्त को घृत बताया गया है, ग्रीष्म में रूक्षता है इसलिए ग्रीष्म को समिधा बताया गया है और शरद् में मध्यस्थता है इसलिए शरद् को हवि बताया गया है । आज के विज्ञान की भाषा में इन्हें पोजीटिव निगेटिव और न्यूट्रल कह सकते हैं । इन तीनों से ही सृष्टि चल रही है ।

## सातवीं ऋचा—

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः ।

तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥

शब्दार्थ यह है कि उस पुरुष रूप यज्ञ को बर्हि पर सिञ्चित किया गया । देवताओं तथा साध्य ऋषियों ने उससे यज्ञ किया । अभिप्राय यह है कि पुरुष समस्त प्रजा में व्याप्त हो गया । बर्हि का अर्थ है प्रजा अर्थात् मनुष्य, पशु और वनस्पति । ऋषि और देव दोनों प्राण ही हैं । ऋषि अव्यक्त है, देव व्यक्त है । इन दोनों प्रकार के प्राणों ने सृष्टि प्रक्रिया में योगदान दिया, क्योंकि प्राण के बिना गति नहीं है और बिना गति के सृष्टि नहीं हो सकती ।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभूतं पृषदाज्यम् ।

पशून्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये ॥

शब्दार्थ यह है कि इस यज्ञ से जिसमें सब कुछ आहुत हो गया घृत उत्पन्न हुआ । घृत का अर्थ है जीवन का प्रारम्भ बिन्दु । उस यज्ञ से ही जीवन प्रारम्भ हुआ । तीन प्रकार के पशुओं में ग्राम्य पशु पञ्चभूत का नाम है, वायव्य पशु प्राण हैं और आरण्यक पशु मन हैं । ये भूत, प्राण और मन मिलकर ही जीवन बनाते हैं ।



### नवीं ऋचा—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे ।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥

शब्दार्थ यह है कि उस यज्ञ से ऋक् और साम पैदा हुए, छन्द पैदा हुए तथा यजुः उत्पन्न हुआ । यहाँ ऋक् का अभिप्राय समस्त मूर्त पदार्थ है । साम का अभिप्राय उन मूर्त पदार्थों का आभामण्डल है । छन्द का अभिप्राय पदार्थों की आकृति है और यजुः का अभिप्राय गति है । ये चारों मिलकर ही सृष्टि के पदार्थों को बनाते हैं ।

### दसवीं ऋचा—

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।

गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥

शब्दार्थ यह है कि उस यज्ञ से अश्व उत्पन्न हुए । वे पशु उत्पन्न हुए, जिनके ऊपर नीचे दोनों ओर दाँत हैं तथा भेड़ और बकरियाँ भी पैदा हुईं । यहाँ अश्व गति का सूचक है । इन्द्र भी गति का सूचक है इसलिए इन्द्र को अश्व प्रिय है । गौ आगति का सूचक है । विष्णु भी आगति का सूचक है इसलिए विष्णु को गौ प्रिय है । ये दोनों गतियाँ जब मन्द होती हैं तो मेष के द्वारा सूचित होती हैं तीव्र होने पर अजा के द्वारा सूचित होती हैं । इन गतियों का सन्तुलन पुरुष में होता है ।

### ग्यारहवीं ऋचा—

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।

मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥

सृष्टि में विविधता है एक ही प्रकार के पुरुष से सृष्टि की विविधता नहीं बन सकती इसलिए इस ऋचा में सृष्टि की विविधता को लक्ष्य करके प्रश्न उठाया गया कि -

पुरुष का कितने भागों में विभाजन किया गया ? उसका मुख क्या बना ? भुजाएं क्या बनीं ? जंघाएं क्या बनीं ? और पाँव क्या बने ? प्रश्न के उत्तर में बारहवीं ऋचा प्रस्तुत की गई

ब्राह्मणो अस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।

ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

शब्दार्थ है—उस पुरुष का मुख ब्राह्मण बना, भुजाएं क्षत्रिय बनीं। जंघाएं वैश्य बनीं और पांव से शूद्र उत्पन्न हुआ।

स्पष्ट है कि ज्ञानेन्द्रियों का मूल मुख है। मुख से उत्पन्न होने वाला ब्रह्मतेज ज्ञान-प्रधान है। कर्म-प्रधान क्षत्रवर्ण बाहु से सूचित होता है। पदार्थों को इधर-उधर व्यापार के लिये ले जाना वैश्य का काम है। इसलिए उसका ऊरु से सम्बन्ध है। समस्त समाज के आधारभूत पदार्थों को उत्पन्न करने वाला शूद्र पाँव से सूचित होता है। यह वर्ण व्यवस्था केवल मनुष्यों में नहीं है; पशु और औषधियों में भी यह वर्णव्यवस्था मिलती है।

### तेरहवीं ऋचा—

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।

मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥

शब्दार्थ है—चन्द्रमा मन से उत्पन्न हुआ, सूर्य चक्षु से उत्पन्न हुआ। मुख से चन्द्र और अग्नि उत्पन्न हुए। प्राण से वायु उत्पन्न हुआ।

मन अव्यय पुरुष का प्रतीक है, सूर्य प्राण है, मुख वाक् है। प्राण ही अक्षर पुरुष है, वाक् ही क्षर पुरुष है। इस प्रकार इस ऋचा में मन, प्राण, वाक् तथा अव्यय, अक्षर और क्षर का संकेत मिलता है।

### चौदहवीं ऋचा—

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीष्णो द्यौः समवर्तत ।

पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥

शब्दार्थ है—नाभि से अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ, शिर से द्यौ, पाँव से भूमि तथा श्रोत्र से दिशाएं। इस प्रकार समस्त लोक बने। यहाँ पुरुष के सर्वोपरि भाग शिर से द्यौ, मध्य भाग नाभि से अन्तरिक्ष और निम्न भाग पाँव से भूमि की उत्पत्ति बताई गई है। इससे तीन लोकों की भिन्नता भी सूचित होती है और अभिन्नता भी। वे एक ही पुरुष के तीन भाग हैं इसलिए अभिन्न हैं किन्तु वे पुरुष के भिन्न-भिन्न भागों से सम्बद्ध हैं इसलिए भिन्न भी हैं।

### पन्द्रहवीं ऋचा—

सप्तास्यासन् परिषयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।

देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥

शब्दार्थ यह है कि उस यज्ञ की सात परिधि थीं और इक्कीस समिधाएं थीं। उस यज्ञ में देवताओं ने पुरुष को पशु बनाकर बांधा।

सात परिधियाँ मन, प्राण और पञ्चभूत हैं। इनके बिना जीवन नहीं टिक सकता। भू; भुव; स्व; मह; जन; तपः और सत्यम् ये सात लोक भी सात परिधियाँ हैं। ये सात परिधियाँ अव्यय, अक्षर और क्षर तीन पुरुषों से गुणित होकर इक्कीस समिधाएं बन जाती हैं। इन्हीं के बीच समस्त सृष्टि समाई है। यहाँ पुरुष को पशु बताया है। पुरुष अमृत है, पशु मर्त्य है। दोनों के संयोग से सृष्टि बनती है। यह पुरुष-पशु काल के स्तूप में बान्धा जाता है।

### सोलहवीं ऋचा -

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।

ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥

यह सृष्टि-यज्ञ देवताओं ने सम्पन्न किया। ऋचा का शब्दार्थ इस प्रकार है—देवताओं ने यज्ञ से यज्ञ सम्पन्न किया। यह प्रथम धर्म था। उन्होंने स्वर्ग को प्राप्त किया जहाँ साध्य देव निवास करते हैं। अभिप्राय यह है कि सृष्टि में दो प्रकार के यज्ञ चल रहे हैं, प्राणयज्ञ और भूतयज्ञ। प्राणयज्ञ से ज्ञान उत्पन्न होता है, भूत यज्ञ से पदार्थ।

प्राणयज्ञ देवता करते हैं, भूतयज्ञ प्रजा। प्राणयज्ञ अमूर्त है, भूतयज्ञ मूर्त। यज्ञ के प्रभाव से देवता पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ तीनों को पार कर के स्वर्ग लोक में चले गये। यही यज्ञ की महिमा है।

### प्रश्न

१. पुरुष के सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष और सहस्रपाद कहने का क्या अर्थ है ?
२. पुरुष का एक पाद विश्व में है, तीन पाद द्यौ में, यह कहने का क्या अभिप्राय है ?
३. पुरुष से सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई ?
४. सृष्टि के लिए पुरुष को यज्ञ क्यों करना पड़ा ?

### स्मरणीय उद्धरण

सम्पूर्ण पुरुष-सूक्त। इस सूक्त का पाठ सभी मांगलिक अवसरों पर किया जाता है।

## षोडश पाठ

# यजुर्वेद (चत्वारिंश अध्याय)

### मन्त्र

ओं पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।  
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वेद के किसी भी मन्त्र के प्रारम्भ में ओम् का उच्चारण होता है। ओम् ब्रह्म का वाचक है। इसमें तीन वर्ण हैं - अकार, उकार तथा मकार के अनन्तर एक चतुर्थ वर्ण भी है जो अर्ध मात्रा रूप है, इसलिए वह सुनाई नहीं पड़ता। हमने पञ्चदश पाठ में पुरुष के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए तथा पुरुष-सूक्त-व्याख्या में भी पुरुष के चार पादों की चर्चा की है।

ओंकार के ये चार वर्ण उन चारों पदों के सूचक हैं।

अकार	-	अव्यय पुरुष
उकार	-	अक्षर पुरुष
मकार	-	क्षर पुरुष
अर्धमात्रा	-	परात्पर

इस प्रकार ओम् ब्रह्म के चारों पादों का सूचक है। इनमें प्रथम अकार को लें। अकार का ऊष्मा भाग विकास को बतलाता है, स्पर्श भाग सङ्कोच को बताता है। विकास अग्नि है, सङ्कोच सोम। इन दो के मिश्रण से पूरी सृष्टि बनी है। जिस प्रकार अर्थसृष्टि अग्नि और सोम से बनी है उसी प्रकार सारी शब्द सृष्टि भी स्पर्श तथा ऊष्मा के संयोग से बनी है। इसलिए ऐतरेय आरण्यक में कहा गया है कि अकार से ही सब शब्द बने हैं—अकारो वै सर्वा वाक्। अकार की इसी महिमा के कारण गीता में भगवान् ने स्वयं को अकार बताया है - अक्षराणामकारोऽस्मि। अकार असङ्ग है इसलिए इसे अव्यय पुरुष के रूप में माना गया है।

उकार में मुख का सङ्कोच होता है। यह ससङ्गासङ्ग है। न यह अकार की तरह पूरी तरह असङ्ग है न मकार की तरह पूरी तरह ससङ्ग है। यह अक्षर पुरुष का वाचक है।

मकार क्षर पुरुष है। इसमें मुख का सर्वथा सङ्कोच हो जाता है। इसके अनन्तर अर्धमात्रा परात्पर की सूचक है। इसमें शास्त्र की गति नहीं। इस प्रकार ओम् समस्त वेदों का सार है। क्योंकि

यह पूर्ण ब्रह्म का वाचक है। समस्त तप और ब्रह्मचर्य का पालन इस ओम् की प्राप्ति के लिए ही किया जाता है।

शास्त्र के प्रारम्भ में पर ब्रह्म के वाचक 'ओम्' का उच्चारण करने के अनन्तर शास्त्र कहता है वह भी पूर्ण है यह भी पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण ही उत्पन्न होता है और पूर्ण में से पूर्ण निकल जाने के बाद पूर्ण ही शेष रह जाता है। यहां 'वह' परोक्ष को बताता है 'यह' प्रत्यक्ष को। ईश्वर परोक्ष है, जीव प्रत्यक्ष है। ईश्वर की पूर्णता तो प्रसिद्ध है किन्तु जीव भी पूर्ण ही है। कारण यह है कि जीव ईश्वर का ही अंश है और यदि ईश्वर पूर्ण है तो उसका अंश जीव भी अपूर्ण नहीं हो सकता। पूर्ण से जो भी उत्पन्न होगा पूर्ण ही होगा। अतः जीव भी पूर्ण है। दूसरी पंक्ति में कहा गया है कि यदि पूर्ण में से पूर्ण निकाल लिया जाय तो पूर्ण ही शेष रहता है। गणित का सिद्धान्त है कि पूर्ण में से पूर्ण के निकाल लेने पर पूर्ण में कोई अपूर्णता नहीं आती।

मन्त्र कहता है कि ईश्वर पूर्ण है। हम भी पूर्ण हैं, क्योंकि हम ईश्वर के ही अंश हैं। इस बात को अनेक तरह से समझा जा सकता है। हमारा व्यक्तित्व विश्व का प्रतिबिम्ब है। विश्व में पृथिवी है, हम में शरीर। विश्व में चन्द्रमा है, हम में मन। विश्व में सूर्य है, हम में बुद्धि। विश्व में परमेष्ठी है, हम में महत्। विश्व में स्वयम्भू है, हम में अव्यक्त। इस प्रकार हम में पूरे विश्व का प्रतिनिधित्व हो रहा है। विश्व पूर्ण है इसलिए हम भी पूर्ण हैं। एक अन्य दृष्टि से देखें तो हमारे अस्तित्व के तीन अंग हैं—मन, प्राण, वाक्। अन्न से मन बना है, आपः से प्राण और तेज से वाक्। इस दृष्टि से भी हमारा व्यक्तित्व पूर्ण है।

जैसे ही हमें अपनी पूर्णता का ज्ञान होता है वैसे ही त्रिविध शान्ति सामने आ जाती है, क्योंकि अशान्ति अपूर्णता से होती है, पूर्णता में नहीं। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक इस तीन प्रकार की शान्ति का सूचक मन्त्र है—ओं शान्तिः। शान्तिः। शान्तिः ॥

उपर्युक्त मङ्गल मन्त्र के साथ ईशोपनिषद् जो कि यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय है, प्रारम्भ होता है। उस उपनिषद् का प्रथम मन्त्र है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

मन्त्र का शब्दार्थ है—जगत् में जो कुछ भी चराचर है वह ईश्वर से व्याप्त है। जो कुछ ईश्वर से परित्यक्त है उसी का भोग करना चाहिये।

इस अर्थ को हम तीन पक्षों में घटित कर सकते हैं—

१. लौकिक पक्ष, २. धर्मपक्ष और ३. विज्ञानपक्ष।

## १. लौकिक पक्ष

ईश का अर्थ है स्वामी । जगत् में जो कुछ चर या अचर है सबका कोई न कोई स्वामी है । जब तक वह स्वामी स्वयं ही तुम्हें कोई पदार्थ न दे हमें उस पदार्थ को नहीं भोगना चाहिये । अर्थात् हमें उस चीज को भोगने का अधिकार नहीं है जिस पर दूसरे का स्वामित्व है । यदि हम उसे भोगेंगे तो वह चोरी कहलायेगा और उसका फल होगा राजदण्ड । यह इस मन्त्र का लौकिक अर्थ हुआ । यह राजदण्ड हमारे स्थूल शरीर को भोगना पड़ता है । इसलिए लौकिक पक्ष में हमें यह मन्त्र सावधान करता है कि हम चोरी करके राजदण्ड के भागी न बनें ।

## २. धार्मिक पक्ष

धार्मिक दृष्टि से भी हमें उस वस्तु का भोग नहीं करना चाहिये जिस पर दूसरे का अधिकार हो, किन्तु इस सन्दर्भ में राजनीति और धर्म में थोड़ा सा अन्तर है । राजनीति में हम किसी व्यक्ति का किसी पदार्थ पर से अधिकार बलपूर्वक भी हटा देते हैं । पुलिस की भाषा में इसे बेदखल या कुड़की करना कहते हैं । किन्तु धर्म के क्षेत्र में बल प्रयोग को स्थान नहीं है । कुल मिलाकर तीन स्थितियां बनती हैं :

१. पदार्थ पर न्यायतः अधिकार हमारा है किन्तु दूसरा उस पर अन्यायपूर्वक अधिकार जमाये हुए है । हम बल प्रयोग द्वारा अपने अधिकार को प्राप्त कर लेते हैं । यह धर्ममूलक राजनीति है ।
२. न्यायतः वस्तु दूसरे की है किन्तु हम बलपूर्वक उस पर अपना अधिकार कर लेते हैं । यह अधर्ममूलक राजनीति है ।
३. वस्तुतः पदार्थ हमारा है किन्तु हम दूसरे को समझा बुझाकर ही उससे वह पदार्थ लेते हैं, बलपूर्वक नहीं । यह विशुद्ध धर्म नीति है ।

पहली स्थिति में यद्यपि हम अपने अधिकार के लिए ही बल का प्रयोग करते हैं तथापि जिसके प्रति हम बल प्रयोग करते हैं वह सदा हमारे प्रति वैर भाव रखता है और इस कारण हमारा सूक्ष्म शरीर सदा आतङ्कित रहता है, भले ही हमारा स्थूल शरीर दण्डित न हो । यह मध्यम मार्ग है । दूसरा अधर्ममूलक राजनीति का मार्ग अधर्म है । इससे भले ही प्रारम्भ में कुछ लाभ हो किन्तु अन्त में मनुष्य समूल नष्ट हो जाता है । अतः उत्तम मार्ग तीसरा धर्मनीति का ही है ।

## ३. वैज्ञानिक पक्ष

समस्त पदार्थ ईश्वर से व्याप्त है । जो पदार्थ का अपना स्वरूप है वह ब्रह्मौदन है । हम उसे नहीं भोग सकते । जो भाग पदार्थ का अपना हिस्सा नहीं होता वह उसके द्वारा छोड़ दिया जाता है । वह प्रवर्ग्य है । उसे ही उच्छिष्ट या यज्ञशेष भी कहते हैं । हमारा अधिकार इस यज्ञशेष पर ही है, ब्रह्मौदन पर नहीं ।

ब्रह्मौदन को समझने के लिए यह समझ लेना चाहिये कि किसी पदार्थ या दूसरे पदार्थ से दो प्रकार का सम्बन्ध होता है—अन्तर्याम और बहिर्याम। अन्तर्याम सम्बन्ध में वह पदार्थ दूसरे पदार्थ का अभिन्न अंग बन जाता है। यही ब्रह्मौदन है। जो जिसका ब्रह्मौदन बन गया उसका उस पर अधिकार हो गया। यदि हम उसे लेते हैं तो भले ही हमारा स्थूल शरीर दण्ड का भागी न बनें, कारण-शरीर दण्ड का भागी बनता है।

हमने जो प्रारम्भ में कहा कि पृथिवी से हमारा शरीर बना, चन्द्रमा से मन, सूर्य से बुद्धि, परमेष्ठी से महत् और स्वयम्भू से अव्यक्त। उन उन लोकों के प्रवर्ग्य से ही हमारा व्यक्तित्व बना है। जो अंश स्वयम्भू इत्यादि का ब्रह्मौदन बन गया वह स्वधा कहलाता है। स्वधा का अर्थ है देवताओं का अन्न। उदाहरणतः सूर्य का स्वरूप बनाने में कुछ ताप का अंश आ जाता है किन्तु जो ताप सूर्य का प्रवर्ग्य है उसे ही हम भोगते हैं। जो अंश सूर्य का हिस्सा बन गया वह सूर्य का मस्तक है। उससे कटकर जो हम तक आया वह प्रवर्ग्य है इसलिए इसे छिन्नशीर्षयाग कहा जाता है।

यहाँ समस्त सृष्टि में ईश्वर के अनुस्यूत होने की बात कही गई है। जो जिस क्रिया को करता है वह अपने मन की इच्छा, प्राण, तप और वाक् के कर्म द्वारा उसमें प्रविष्ट हो जाता है। उदाहरणतः ग्रन्थ लेखक की कामना, चिन्तन रूप अन्तर्व्यापार और लेखन रूप बहिव्यापार तीनों उसके ग्रन्थ में अनुस्यूत रहते हैं। इससे स्पष्ट है कि सृष्टि का कर्ता ईश्वर भी सृष्टि में अनुस्यूत है।

प्रकृति में सभी प्रवर्ग्य को भोग रहे हैं, ब्रह्मौदन को कोई नहीं भोगता। यह तो पहले ही बतला चुके हैं कि मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो प्रकृति के नियमों का अतिक्रमण कर देता है और इसलिए मनुष्य के लिए शास्त्रोपदेश की आवश्यकता है। हम प्रवर्ग्य को भोगते हैं। यह भोग है। किन्तु यदि हम ब्रह्मौदन को भोगना चाहते हैं तो यह आसक्ति है। बन्धन का कारण योग नहीं, आसक्ति है। यज्ञीय जीवनशैली में आसक्ति नहीं होती इसलिए गीता में कहा है कि सब कर्म बन्धन का कारण है किन्तु यज्ञ के लिए किया जाने वाला कर्म बन्धन का कारण नहीं है—यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

### प्रश्न

१. ओम् का क्या महत्व है ?
२. हम किस प्रकार यह कह सकते हैं कि हम पूर्ण हैं ?
३. राजनीति और धर्मनीति में क्या अन्तर है ?
४. ब्रह्मौदन तथा प्रवर्ग्य का क्या अर्थ है ?

### स्मरणीय उद्धरण

यजुर्वेद का पूरा चालीसवां अध्याय जिसे ईशोपनिषद् भी कहा जाता है। यह वेदान्त दर्शन का मूल है।

## सप्तदश पाठ

# यजुर्वेद (चत्वारिंश अध्याय—मन्त्र २-३)

### दूसरा मन्त्र—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

प्रथम मन्त्र में कैसे भोगें और क्या भोगें—यह चर्चा की गई थी। भोगाना मन का कार्य है। इस दूसरे मन्त्र में क्या करें और कैसे करें? इसकी चर्चा है। कर्म प्राण का कार्य है।

मन्त्र का शब्दार्थ है—१०० वर्ष तक कर्म करते हुए ही जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिये अर्थात् जन्म से मृत्यु पर्यन्त निरन्तर कर्म करने चाहिये। इस प्रकार निरन्तर कर्म करने के अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता नहीं है। ऐसा करने से कर्म मनुष्य को लिप्त नहीं करते।

कर्म तीन प्रकार के हैं—१. वे कर्म जिन्हें करने के लिए हम किन्हीं के द्वारा नियुक्त कर दिये गए हैं। ये कर्म अधिकृत कर्म कहलाते हैं। इन कर्मों का सम्बन्ध हमारे स्थूल शरीर से है। २. वे कर्म जिन्हें हमें प्रकृति की व्यवस्था के अनुसार करना चाहिये। ये धार्मिक कर्म कहलाते हैं। इनका सम्बन्ध हमारे सूक्ष्म शरीर से है। ३. वे कर्म जिनका सम्बन्ध हमारी आत्मा के स्वरूप से है। ये आत्मीय कर्म कहलाते हैं। इनका सम्बन्ध हमारे कारण शरीर से है।

हमारे अधिकृत कर्म समाज शास्त्रियों तथा राजनीतिज्ञों द्वारा निर्धारित कर दिये जाते हैं। इनका पालन हमें यावज्जीवन करना चाहिये। ऐसे कर्मों का दायित्व उन पर होता है जो उस कर्म को करने का आदेश देता है। जो आज्ञा का पालन करता है, उसके लिए कर्म बन्धन का कारण नहीं बनते। उदाहरणतः यदि कोई वधिक शासन की आज्ञा से किसी को फाँसी पर चढ़ाता है तो उसे हत्या का पाप नहीं लगता है क्योंकि वह वधिक अपने अधिकृत कर्म को करता है। अधिकृत कर्म में न कोई छोटा है न बड़ा। वहाँ केवल एक मर्यादा है कि जहाँ हमें जिस कर्म में नियुक्त किया जाय वही करें, अपने मन से कुछ न करें। उदाहरणतः यदि वधिक शासन की आज्ञा से किसी को फाँसी देने समय फाँसी देने के अतिरिक्त फाँसी देने से पूर्व अपराधी को एक चपत भी लगा देगा तो दण्ड का भागी होगा क्योंकि उसे यह कर्म करने लिए आदेश नहीं दिया गया है, किन्तु क्योंकि उसे फाँसी देने का आदेश दिया गया है इसलिए फाँसी देने के बदले उसे कोई दण्ड नहीं मिलेगा। वर्ण व्यवस्था तथा आश्रम व्यवस्था का यही रहस्य है कि जो कर्म करने की आज्ञा शास्त्र हमें देता है यदि हम उसी कर्म को करते हैं, तो दण्ड के भागी नहीं बनते। इतना ही नहीं शास्त्रादेश से कर्म करने वालों में न कोई छोटा है न बड़ा।



### धार्मिक कर्म :

शास्त्र की दृष्टि से कर्म का विभाजन तीन प्रकार का है—शास्त्र-सम्मत कर्म, शास्त्र-विरुद्ध कर्म और ऐसे कर्म जिनका न शास्त्र में विधान है न निषेध । इनमें शास्त्र सम्मत कर्म भी तीन प्रकार के हैं । १. विद्यासमुच्चित निष्काम कर्म, २. विद्यासमुच्चित प्रवृत्ति कर्म, ३. विद्यानिरपेक्ष प्रवृत्ति कर्म । विद्या समुच्चित निष्काम कर्म वे हैं जो बुद्धि का साधन हैं' । उदाहरणतः ध्यान, धारणा, समाधि । इनका सम्बन्ध मनप्रधान कारण शरीर से है । विद्या समुच्चित प्रवृत्ति कर्म तीन हैं—यज्ञ, तप और दान । इनका फल स्वर्ग है और इनका सम्बन्ध प्राणप्रधान सूक्ष्म शरीर से है । विद्यानिरपेक्ष प्रवृत्ति कर्म भी तीन हैं—इष्ट, आपूर्त और दत्त । ये कर्म पितृलोक में ले जाने वाले हैं । यहाँ यह समझना चाहिये कि यज्ञ श्रौतकर्म हैं, इष्ट स्मार्त कर्म हैं, आपूर्त बाग बनवा देना, कुआं, बावड़ी बनवा देना इत्यादि लोक कल्याण के कर्म हैं, दान विद्वान् को दिया जाने वाला धन है, दत्त जरूरत मन्द को दिया जाने वाला धन है । इन कर्मों का वाक्प्रधान स्थूल शरीर से सम्बन्ध है ।

मुक्ति के साधक कर्म आत्मीय कर्मों की कोटि में आयेंगे । विद्यासमुच्चित प्रवृत्ति कर्म और विद्यानिरपेक्ष प्रवृत्ति कर्म धार्मिक कर्म हैं । शेष बचे हुए सभी कर्म या तो निरर्थक हैं या शास्त्रविरुद्ध । निरर्थक कर्म अकर्म कहलाते हैं । वे न करने योग्य हैं । शास्त्रविरुद्ध कर्म विकर्म कहलाते हैं । वे पाप के बन्धन का कारण हैं ।

लौकिक कर्मों का निर्धारण राजनेता या सामाजिक पुरुष करते हैं । धार्मिक कर्मों का निर्धारण ईश्वर करता है । राजनेता अथवा सामाजिक पुरुष पञ्च हैं क्योंकि ये कर्म का निर्धारण करते हैं । इसलिए पञ्चों को परमेश्वर कहा जाता है । अन्तर इतना है कि पञ्च बाहर से नियन्त्रण करते हैं, ईश्वर अन्दर से नियन्त्रण करता है । बाहरी नियन्त्रण बदलते रहते हैं । आन्तरिक नियन्त्रण शाश्वत है । यह शाश्वत नियन्त्रण ही नियति कहा जाता है । उदाहरणतः पानी का नीचे की ओर बहना तथा अग्नि का ऊपर की ओर, ज्ञाना उनकी नियति है और यह अटल है ।

इस सन्दर्भ में यह जान लेना चाहिये कि श्रुति ईश्वर का वचन है । स्मृति सामाजिक पुरुषों का वचन है । इसलिए श्रौत धर्म शाश्वत हैं, स्मार्त धर्म परिवर्तनशील हैं । स्वयं स्मृति ही कहती है कि अलग-अलग युग का अलग-अलग धर्म है । कृतयुग का धर्म तप है । त्रेता का धर्म ज्ञान है । द्वापर का धर्म यज्ञ है । कलियुग का धर्म दान है :

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ।

द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥

इसका अर्थ यह है कि शाश्वत धर्म का प्रतिपादन तो श्रुति में होता है किन्तु उस धर्म में कौन-सा धर्म अधिक उपयुक्त है इसका विवेचन स्मृतिकार करते हैं और इस प्रकार श्रौत-स्मार्त धर्म सनातन होते हुए भी युगानुकूल बना रहता है । यही वैदिक धर्म की विशेषता है । यदि हम उसमें युगानुरूप परिवर्तन नहीं लायेंगे तो वह धर्म रुके हुए पानी की तरह सड़ जायेगा ।

## आत्मीय कर्म :

माया ईश्वर की शक्ति है। शक्ति और शक्तिमान् में सदा अभेद रहता है। माया का ही दूसरा नाम कर्म है। जो कर्म आत्मा के स्वभाव हैं वे कर्म आत्मीय कर्म कहलाते हैं। हमारे मन में अनेक इच्छाएं उत्पन्न होती रहती हैं और हम उन इच्छाओं से प्रेरित होकर कर्म करते रहते हैं। वे सभी कर्म आत्मीय नहीं होते। यदि हम मन की इच्छा पर बुद्धि का नियंत्रण रखते हैं तो कृत्रिम इच्छाओं को बलवान् होने का अवसर नहीं मिलता है। जो इच्छाएं सहज होती हैं उनसे प्रेरित होकर किये गये कर्म बन्धन का कारण नहीं होते। एक उदाहरण लें। सच्ची भूख लगने पर खाने की इच्छा सहज इच्छा है। यह इच्छा बन्धन का कारण नहीं। किन्तु भूख न होने पर भी खाने की इच्छा किसी ईश्वरेच्छा का अंग नहीं है। चटपटे पदार्थों को देखकर खाने की इच्छा जीवेच्छा है। जीवेच्छा ही बन्धन का कारण है, ईश्वरेच्छा नहीं। वस्तुतः आत्मीय कर्म तो स्वयं भगवान् कृष्ण भी करते थे। उन्होंने गीता में कहा है कि मुझे अब कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं है। फिर भी मैं कर्म करता हूँ—नानाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।

इनमें अधिकृत कर्म करने से समाज की व्यवस्था बनी रहती है, धार्मिक कर्म करने से आन्तरिक शान्ति बनी रहती है और आत्मीय कर्म से मन की शुद्धि होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। इन तीनों में कोई भी कर्म बन्धन का कारण नहीं। इसलिए उन्हें यावज्जीवन करना चाहिये। यदि हम अधिकृत कर्म नहीं करेंगे तो अव्यवस्था होगी और हमारा अपयश भी होगा। धार्मिक कर्मों को छोड़ देने पर हमारा मन अशान्त रहेगा तथा आत्मीय कर्मों के अभाव में वासना की पकड़ मजबूत हो जायेगी। इसलिए ये तीनों कर्म ही करते रहने चाहिये।

## तीसरा मन्त्र :

*असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।*

*तांस्ते प्रेत्यापिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥*

प्रथम मन्त्र में जहां ज्ञानप्रधान मन को केन्द्र में रखा था और द्वितीय मन्त्र में कर्मप्रधान प्राण को केन्द्र में रखा गया वहाँ इस तृतीय मन्त्र में अर्थप्रधान आवरण को केन्द्र में रखा गया है।

शब्दार्थ है—जो आत्मघाती जन है वे मरण के अनन्तर उन लोकों में आते हैं जो गहरे अन्धकार से घिरे हैं और जहां सूर्य नहीं है या जिन लोगों का सम्बन्ध असुरों से है।

आत्मा के तीन घटक हैं—वाक् अथवा स्थूल शरीर, प्राण अथवा सूक्ष्म शरीर, मन अथवा कारण शरीर। इन तीनों का हनन ही आत्मघात है।

### स्थूल शरीर का हनन :

सामाजिक अथवा राजनैतिक दृष्टि से जो व्यक्ति किसी के स्थूल शरीर की हत्या करता है उसे कारावास में डाल दिया जाता है। जिसको गहरा अन्धकार होने के कारण काल कोठरी कहा जाता है।

दोष तीन प्रकार के हैं। पहला दोष ग्रहजन्य है। जैसी ग्रहों की स्थिति होती है वैसा ही व्यक्ति का स्वभाव हो जाता है। उसका वह स्वभाव छूटता नहीं। यद्यपि हम उसे उस स्वभाव के लिए दण्डित करते रहते हैं। इसलिए गीता में कहा गया है - प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।

दूसरे प्रकार के दोष वे हैं जो कुसङ्गति के कारण होते हैं।

तीसरा दोष मुग्धभाव से उत्पन्न होने वाला दोष है। जैसे न चाहेते हुए भी असावधानी वश हमारे पाँव की ठोकर किसी को लग जाए। ऐसे अनजाने में किये गये अपराध का दण्ड हलका ही होता है, कठोर नहीं।

वस्तुतः दण्ड का विधान द्वितीय प्रकार के अपराधों के लिए है जो निम्न पाँच कारणों से उत्पन्न होते हैं-

१. सुरा अर्थात् शराब
२. मन्यु अर्थात् गुस्सा
३. विभीतक अर्थात् जुआ
४. अचित्ति अर्थात् नासमझी
५. अस्ति ज्यायान् कनीयसः—अर्थात् किसी ऐसे व्यक्ति के दबाव में गलत काम करना जिससे अपना स्वार्थ सिद्ध होने की सम्भावना हो।

इन पाँच कारणों से किये जाने वाले अपराध के बदले में व्यक्ति को ऐसे कारावास में रहना पड़ता है जहाँ अन्धकार रहता है।

अपराधी को अन्धेरे कारावास में रखने का एक कारण है। जो भी अपराध करता है वह आत्म ज्योति का तिरस्कार करता है इसलिए वह प्रकाश का अधिकारी नहीं रहता। ज्योतियां पाँच हैं। दिन में सूर्य ज्योति है। रात्रि में चन्द्रमा ज्योति है। यदि चन्द्रमा भी न हो तो अग्नि ज्योति है। अग्नि के भी अभाव में चौथी ज्योति वाक् है। जहां वाक् भी नहीं रहती वहाँ पाँचवीं ज्योति आत्मा अपना काम करती है। जब हम कोई अपराध करते हैं तो पाँचवीं ज्योति आत्मा हमें अपराध करने से रोकती है किन्तु हम उस आत्म ज्योति का तिरस्कार करके वह पाप करते हैं। फल होता है कि हम ज्योति के अधिकारी नहीं रह जाते। अतः ऐसे व्यक्ति को अन्धेरे कारागार में रखना ही उचित है।

आत्महनन का एक दूसरा रूप है—आत्महत्या। आत्महत्या करने वाले व्यक्तियों को हम दण्डित नहीं कर सकते। क्योंकि उसका शरीर दण्डित करने के लिए शेष ही नहीं रहता; किन्तु उसे

भी अपराध का दण्ड अवश्य मिलता है। उसका सूक्ष्म शरीर अन्धकारपूर्ण अर्थात् अज्ञान में तथा देह दुःख भरी योनियों में चला जाता है।

यह स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर के दण्ड की बात हुई। स्थूल शरीर के दण्ड द्वारा समाज में व्यवस्था बनी रहती है। आत्महत्या का जो दण्ड सूक्ष्म शरीर को भोगना पड़ता है वह स्थूल शरीर की अपेक्षा कहीं अधिक भयङ्कर है क्योंकि उससे परलोक में सुख की आशा समाप्त हो जाती है।

किन्तु सबसे अधिक भयानक दण्ड कारण शरीर को मिलता है। विज्ञान पक्ष में आत्मघात का अर्थ है कि सर्वत्र व्यापक आत्मा के होते हुए भी उसे न देख पाना। ऐसा माया के कारण होता है। असंज्ञ जीवों में केवल वैश्वानर है, तैजस और प्राज्ञ वहाँ व्यक्त नहीं हो पाये। वहाँ तमोगुण ही मुख्य है अतः वहाँ आत्मा का सर्वाधिक हनन हुआ है। वहाँ सर्वाधिक अन्धकार भी है—यह प्रत्यक्षगोचर ही है। क्रमशः अन्तः संज्ञ में क्योंकि तैजस भाव भी जागृत हो जाता है इसलिए आत्म हनन का अंश कम है, अतः वहाँ अन्धकार भी अपेक्षाकृत कम है। किन्तु फिर भी वहाँ तमोगुण ही मुख्य है। आत्मा की ज्ञान-ज्योति ससंज्ञ जीवों में अधिक प्रकाशित होती है क्योंकि वहाँ प्राज्ञ भी व्यक्त हो जाता है और इसलिए वहाँ तमोगुण की अपेक्षा रजोगुण अधिक माना जाता है। यों तो ससंज्ञों से भी ऊपर देवयोनियाँ हैं जिनमें सत्त्व गुण अधिक होने के कारण अन्धकार और भी कम हैं किन्तु जैसे कि हम पहले बता चुके हैं कि अन्धकार को सर्वथा भेदकर प्रकृति से पार जाने का सामर्थ्य केवल मनुष्य में ही है इसलिए शास्त्र का यह उपदेश कि आत्महनन न करें, मनुष्य के लिए ही है। शेष योनियों में तो प्राणी अपनी-अपनी प्रकृति का अनुसरण करते हुए जितने अन्धकार या प्रकाश में रहता है वह नियत है और पुरुषार्थ द्वारा वह उसमें कुछ विशेष परिवर्तन नहीं कर सकता। जो मनुष्य भी प्रकृति के वशीभूत है वह जन्म मरण के चक्कर में पड़ा रहता है। विज्ञान पक्ष में इस जन्म-मरण के चक्कर को ही अन्धकारमय असुर लोक कहा गया है जो माया के आवरण से ढका है। जो इस माया के आवरण को भेद देता है वही जन्म-मरण के अन्धकारमय असुरलोक से मुक्त हो जाता है।

### प्रश्न

१. कर्म कितने प्रकार के हैं ?
२. धार्मिक कर्म कितने प्रकार के हैं ?
३. आत्मीय कर्म का क्या अर्थ है ?
४. हम आत्म हनन किस प्रकार करते हैं ?
५. विज्ञान पक्ष में आत्मघात का क्या अर्थ है ?

### स्मरणीय उद्धरण

#### षोडश पाठवत्

## अष्टादश पाठ

# यजुर्वेद (चत्वारिंश अध्याय—मन्त्र ४-५)

### चौथा मन्त्र :

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत् ।

तद्भावतोऽन्यानत्येति तिष्ठतस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

तीसरे मन्त्र में हमने जिस अन्धकार या आवरण की चर्चा की है उसका प्रवर्तक शुद्ध अव्यय नहीं हो सकता । उसका प्रवर्तक कौन है ? इसके उत्तर में यह मन्त्र कहता है कि यह तत्त्व निष्कम्प है, किन्तु मन से भी अधिक वेगशाली है । वह तत्त्व सर्वत्र व्याप्त है । वह स्थित होने पर भी सबका अतिक्रमण कर जाता है । उसी तत्त्व में मातरिश्वा आपः को धारण करता है । यहां उस तत्त्व को कम्परहित होते हुए भी गतिशील बताया गया है । अव्यय पुरुष में रस भी है, बल भी है; विद्या भी है, कर्म भी है; अमृत भी है मृत्यु भी है । बल परिवर्तनशील है, रस शाश्वत है । ज्ञान ही निष्कम्प है, कर्म ही गतिशील है । ये दोनों एक ही सत्ता में रहते हैं । वेद जगत् को मिथ्या नहीं मानता बल्कि नाम और रूप को सत्य मानता है—*नामरूपे सत्यम्* । इस प्रकार अव्यय पुरुष में निष्कम्पता और गतिशीलता दोनों ही है । ईशोपनिषद् के ही आगे के मन्त्र में इस विषय का और विस्तार किया जायेगा । यहाँ केवल इतना जान लेना चाहिये कि जहां ज्ञान प्रधान है, वह ब्रह्म है; जहाँ कर्म प्रधान है, वहाँ विश्व है । किन्तु ब्रह्म और विश्व परस्पर पृथक् नहीं हैं । इस निष्कम्प गतिशील तत्त्व के बारे में यह कहना उचित ही है कि वह सर्वत्र है और सबका अतिक्रमण किये हुए हैं, क्योंकि जो सर्वव्यापक है वह स्वतः ही सबका अतिक्रमण किये रहता है ।

इस मन्त्र के चौथे पाद में कहा है कि उस तत्त्व में मातरिश्वा आपः को धारण करता है । मातरिश्वा का अर्थ है सूत्रवायु । इस सूत्रवायु के कारण ही परमात्मा में कर्म या गति होती है । इस सूत्रवायु में आपः की आहुति होती है । यही प्रथम यज्ञ है । इस विषय का स्पष्टीकरण आवश्यक है ।

वेद में पाँच लोकों का वर्णन है । इनमें प्रथम स्वयम्भू है । इस स्वयम्भू से पैदा होने वाला परमेष्ठी है । वह परमेष्ठी आपोमय है । आपः के दो भाग हैं—भृगु और अंगिरा । इनमें भृगु स्नेहशील है । यह भृगु घन रूप में आपः है, तरल रूप में वायु है और विरल रूप में सोम है । भृगु का जो तरल रूप वायु है वह वायु चार प्रकार का है—१. प्राण जो श्वास-प्रश्वास रूप है, २. पवमान जो जल का अंश है, ३. मातरिश्वा जो पिण्ड में व्याप्त रहकर पिण्ड की रक्षा करता है, ४. सविता जो

प्राणवायु को गति देता है । इनमें प्राणवायु पूर्व दिशा में है, मातरिश्वा दक्षिण दिशा में, पवमान पश्चिम दिशा में और सविता उत्तर दिशा में ।

ऊपर जिस चतुर्विध वायु का उल्लेख है उनमें प्राणवायु पवमान वायु और सविता वायु, पिण्ड के महिमा मण्डल में रहते हैं, केवल मातरिश्वा पिण्ड पर आरक्षित है । यही मातरिश्वा उस आपः में प्रविष्ट होकर उस तरल आपः को घन बना देता है । इस प्रकार मातरिश्वा वायु के कारण ही तरल आपः घन पृथिवी में बदल जाता है । मातरिश्वा का दूसरा नाम वराह भी है । यह वराह वायु ही आपः को पिण्ड में बदलता है । इसलिए कहा जाता है कि वराहावतार विष्णु ने पृथिवी को जल से उबारा ।

हमने ऊपर स्थिति और गति की चर्चा की । ये दोनों एक दूसरे में ओतप्रोत हैं । अब अगले तीन मन्त्रों में इनका परस्पर सम्बन्ध बताया जायेगा । पाँचवें मन्त्र में 'कर्म में ब्रह्म है' यह बताया जायेगा । छठे मन्त्र में ब्रह्म में कर्म की स्थिति बताई जायेगी और सातवें मन्त्र में यह बताया जायेगा कि ब्रह्म ही कर्म है । इनमें सबसे पहले पाँचवां मन्त्र लेते हैं —

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥

इस मन्त्र में ब्रह्म को कर्म में स्थित बताया गया है । अव्यय पुरुष के दो ही प्रधान विवर्त हैं— ब्रह्म और कर्म । इनमें ब्रह्म का सम्बन्ध आनन्द, विज्ञान और मन से है, कर्म का सम्बन्ध मन, प्राण और वाक् से है । विश्वात्मा में ब्रह्म प्रधान है, विश्व में कर्म प्रधान है । विश्व मन, प्राण, वाक् का समुच्चय है, मन-प्राण-वाक् का नाम ही नाम, रूप, कर्म है । ईशोपनिषद् का वर्ण्य विषय इस प्रकार है—

मन्त्र १ मनः प्रधान अव्यय पुरुष

मन्त्र २ प्राण प्रधान अक्षर पुरुष

मन्त्र ३ वाक् प्रधान क्षर पुरुष

मन्त्र ४ प्रकृति (अव्यक्तात्मा)

मन्त्र ५ कर्म में ब्रह्म

मन्त्र ६ ब्रह्म में कर्म

मन्त्र ७ कर्म और ब्रह्म का तादात्म्य

मन्त्र ८ विकृति (शुक्रमु, व्यक्तात्मा)

मन्त्र ९, १०, ११ विकार (विश्वात्मा) सूर्य (बुद्धि)

मन्त्र १२, १३, १४ विकार (विश्वात्मा) चन्द्रमा (मन)

प्रकृति

ब्रह्म और

प्रकृति का

सम्बन्ध

मन्त्र १५, १६, १७ विकार (भूतात्मा) भोक्ता

मन्त्र १७ विकार (विश्वात्मा) पृथिवी (शरीर)

मन्त्र १८ विकार (सत्यात्मा) अग्नि

इस प्रकार ईशोपनिषद् में पुरुष और प्रकृति का ही विस्तार है । प्रस्तुत पाँचवें मन्त्र में कर्म में ब्रह्म की स्थिति बतलाई गई है । ब्रह्म कारण है । विश्व कार्य है । ब्रह्म और विश्व के सम्बन्ध को जानने के लिए यह समझ लेना चाहिये कि सम्बन्ध अठारह प्रकार के है —

(१) हेतु सम्बन्ध : दीपशलाका से दीपक जलता है । दीपशलाका कारण है दीप शिखा कार्य है । इन दोनों के बीच हेतु सम्बन्ध है । दीपशलाका दीपज्वाला की साधक है किन्तु स्वयं दीपज्वाला नहीं बनती ।

(२) निमित्त सम्बन्ध : वायु से वृक्षादि में कम्प होता है अथवा मेघों में गति होती है । यहां वायु कारण है प्रेरणा कार्य है । इन दोनों में निमित्त सम्बन्ध है ।

(३) प्रकृति सम्बन्ध : पक्षी उड़ने का कारण है । सर्प दंश का कारण है । मृगशावक उछलने का कारण है । पुष्प गन्ध का कारण है । यहां कारण और कार्य के बीच प्रकृति सम्बन्ध है ।

(४) योनि सम्बन्ध : मुंह से शब्द करने पर एक तरङ्ग पैदा होती है । उस एक तरङ्ग से दूसरी तरङ्ग, दूसरी तरङ्ग से तीसरी तरङ्ग तथा तीसरी तरङ्ग से चौथी तरङ्ग उत्पन्न होती है । यहां एक तरङ्ग दूसरी तरङ्ग की योनि है ।

(५) प्रारब्ध सम्बन्ध : हमने पहले पाठ में बताया है कि रस से रक्त, रक्त से मांस इस क्रम में शरीर के सात अङ्ग बनते हैं । यहां रस रक्त का, रक्त मांस का कारण है तथा इस कारण कार्य में प्रारब्ध सम्बन्ध है ।

(६) उद्भव सम्बन्ध : तिल से तैल, हिमालय से गङ्गा तथा दूध से घृत निकलता है । यहां कारण कार्य में उद्भव सम्बन्ध है । यहां तिल में तेल पहले से ही है, केवल तिल का घन अंश उस तैल को ढके हुए है । यदि उस आवरण को हटा दें तो तेल प्रकट हो जाता है । सांख्य दर्शन में इसे सत्कार्यवाद कहते हैं ।

(७) सान्त्वानिक सम्बन्ध : भूमि से अङ्कुर होता है । पुरुष से पुत्र होता है । मकड़ी से जाला बनता है । यहां भूमि का एक अंश अङ्कुर बना सारी भूमि नहीं । इस प्रकार के सम्बन्ध को सान्त्वानिक सम्बन्ध कहते हैं ।

(८) विवर्त सम्बन्ध : समुद्र से लहर पैदा होती है । यहां लहर समुद्र से पृथक् नहीं है । इसे विवर्तवाद कहते हैं । विश्व ब्रह्म का विवर्त है ।

(९) **वैकल्पिक सम्बन्ध** : भूमि सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रही है । जिस मार्ग पर वह परिक्रमा लगा रही है उस मार्ग का नाम क्रान्तिवृत्त है । यहां आकाश में कोई मार्ग वस्तुतः बना हुआ नहीं है । उसकी कल्पना कर ली गई है ।

(१०) **ऐच्छिक सम्बन्ध** : हम अपने मनोराज्य में जो काल्पनिक जगत् बनाते हैं उसमें विचित्र कारण कार्य सम्बन्ध स्थापित कर लिया करते हैं । ऐसे सब सम्बन्ध ऐच्छिक सम्बन्ध कहलाते हैं ।

(११) **औपपादिक सम्बन्ध** : वृक्ष से फूल फल होना, लोहे से जंग होना, शरीर से केश लोम होना ये सब औपपादिक सम्बन्ध के अन्तर्गत आते हैं ।

(१२) **परिणामी सम्बन्ध** : तैल से लौ बनती है, अंगारे से भस्म बनता है । ये सब परिणामी सम्बन्ध हैं जहां कारण अपने स्वरूप को छोड़कर कार्य के रूप में परिणत होता है ।

(१३) **रसवाही सम्बन्ध** : पानी से औषधियां बनना, औषधियों से वीर्य बनना रसवाही सम्बन्ध के उदाहरण हैं ।

(१४) **संयौतिक समवायी सम्बन्ध** : जौ, गुड़ आदि से सुरा बनना इसी प्रकार के सम्बन्ध के उदाहरण हैं ।

(१५) **उपादान सम्बन्ध** : मिट्टी से घड़ा बनना, तन्तु से पट बनना उपादान सम्बन्ध के उदाहरण हैं ।

(१६) **सांक्रामिक सम्बन्ध** : अग्नि से पानी का गर्म होना, सुवर्ण का पिघल जाना इत्यादि सांक्रामिक सम्बन्ध हैं ।

(१७) **आक्रमिक संचारी सम्बन्ध** : जपा कुसुम के प्रतिबिम्ब के कारण स्फटिक मणि का लाल हो जाना आक्रमिक संचारी सम्बन्ध के कारण हैं ।

(१८) **उपादान कारण** : इस सम्बन्ध का ऊपर हमने उल्लेख किया । वह सम्बन्ध अनेक प्रकार का है तथा प्रत्येक प्रकार का अपना एक वैशिष्ट्य है । उदाहरणतः निम्न पाँच परिस्थितियों को देखें :

१. मकड़ी से जाला उत्पन्न होता है । किन्तु उत्पन्न होने के बाद जाला मकड़ी से अलग रहता है । यह प्रभवानालम्बनत्व हुआ । मकड़ी जाले से अलग रहती है । यह प्रभव-पृथक्चरत्व हुआ । जाला अन्त में मकड़ी में ही लीन हो जाता है । यह प्रभव-विलयनत्व हुआ ।
२. पुरुष से केश लोम उत्पन्न होते हैं । वे पुरुष से पृथक् भी हो जाते हैं, किन्तु पुरुष में विलय नहीं होते । इस प्रकार उनमें प्रभवालम्बनत्व है, प्रभव-पृथक्-चरत्व भी है, किन्तु प्रभव-विलयनत्व है, प्रभव-विलयनत्व नहीं ।
३. पृथिवी से औषधि उत्पन्न होती है । उनमें प्रभवालम्बनत्व है । वे पृथिवी से अलग होकर ऊपर की ओर बढ़ती हैं अतः उनमें प्रभव-पृथक्-चरत्व भी है तथा वे पृथिवी में ही लीन हो



जाती है । इसलिए उनमें प्रभवविलयनत्व भी है । अन्तर इतना है कि जाला मकड़ी में लीन होता भी है, नहीं भी होता, किन्तु औषधियां तो पृथिवी में लीन होती ही हैं ।

४. पिता से पुत्र उत्पन्न होता है किन्तु वह पिता पर अवलम्बित नहीं है, न ही पिता में उसका विलय होता है । वह अलग रहता है ।
५. मिट्टी से घड़ा बनता है । घड़ा सदा मिट्टी पर ही आलम्बित रहता है । मिट्टी में ही उसका विलय होता है और वह मिट्टी से पृथक् भी नहीं रहता । अग्नि से चिंगारी उत्पन्न होती है । यह चिंगारी अग्नि के साथ भी रह सकती है अग्नि-से पृथक् भी रह सकती है । इसका विलय अग्नि में हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता ।

उपर्युक्त सभी उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि कारण कार्य के बीच अनेक प्रकार के सम्बन्ध होते हैं और इन सम्बन्धों की विचित्रता के कारण ही सृष्टि की विविधता बनती है । प्रस्तुत प्रसङ्ग में हमें छः सम्बन्ध ही अभिप्रेत हैं। वे छः सम्बन्ध इस प्रकार हैं :

- |                                  |                         |
|----------------------------------|-------------------------|
| १. घड़ा मिट्टी में है            | कारण में कार्य          |
| २. मिट्टी घड़े में है            | कार्य में कारण          |
| ३. घड़ा भिन्न है मिट्टी भिन्न है | कार्य-कारण परस्पर भिन्न |
| ४. मिट्टी ही घड़ा है             | कारण ही कार्य           |
| ५. घड़ा मिट्टी से अभिन्न है      | कार्य कारण से अभिन्न    |
| ६. मिट्टी में घड़ा अध्यस्त है    | कार्य में कारण अध्यस्त  |

ब्रह्म और कर्म के विषय में सम्बन्ध की विविधता निम्न तालिका से ज्ञात है—

- |   |  |
|---|--|
| १. ब्रह्म कर्मस्थ                             | कारण कार्यस्थ                                |
| २. कर्म ब्रह्मस्थ                             | कार्य कारणस्थ                                |
| ३. ब्रह्म और कर्म भिन्न                       | कार्य कारण भिन्न-भिन्न                       |
| ४. ब्रह्म ही कर्म है                          | कारण ही कार्य है                             |
| ५. ब्रह्म कर्म से पृथक् है किन्तु कर्म अपृथक् | कारण कार्य से पृथक् है, कार्य कारण से अपृथक् |
| ६. ब्रह्म कर्म में भासित हो रहा है            | कारण में कार्य भासित हो रहा है ।             |

इन छः सम्बन्धों में से प्रथम सम्बन्ध का निरूपण अगले छोटे मन्त्र में, दूसरे सम्बन्ध का निरूपण सातवें मन्त्र में तथा चौथे सम्बन्ध का निरूपण आठवें मन्त्र में होगा, क्योंकि इन सब सम्बन्धों में ये तीन ही सम्बन्ध प्रधान हैं ।

इस भूमिका के अनन्तर पाँचवें मन्त्र का शब्दार्थ देना उचित होगा—वह चलता है, वह नहीं चलता । वह दूर है, वह समीप है । वह सबके भीतर है, वह सबके बाहर है ।

इस मन्त्रार्थ का भाव तीन रूप में समझा जा सकता है । जो कृतात्मा है, उनकी दृष्टि में ब्रह्म चलता नहीं । जो संसारी हैं, उनकी दृष्टि में वह चलता है । मुक्त आत्मा के वह निकट है । संसारी व्यक्ति से वह दूर है । मुक्त आत्मा के लिए वह सबके अन्दर है अज्ञानी के लिए वह सबके बाहर है । श्रुति कहती है कि ज्ञानी की ब्रह्म पर दृष्टि है, अज्ञानी की कर्म पर । वस्तु स्थिति यह है कि कर्म और ब्रह्म अलग-अलग नहीं है ।

दूसरा अर्थ विधेयात्मा की दृष्टि से है । विधेयात्मा उपासक है । उपासना ज्ञान और कर्म के मध्य की वस्तु है । उपासक का ध्येय रहता है कि दृष्टि ब्रह्म पर रहे तथा शरीर से कर्म करे । यही बुद्धियोग है । कर्म दृष्टि से ब्रह्म “एजत्” है ब्रह्म दृष्टि से “अनेजत्” है ।

यह मन्त्र यजुर्वेद में आया है । स्वयं यजुः शब्द का अर्थ भी गतियुक्त स्थिति अथवा स्थितियुक्त गति है, क्योंकि यजुः शब्द दो शब्दों को मिलाकर बना है यत् और जू । यत् का अर्थ है गति, जू का अर्थ है स्थिति । गति और स्थिति दोनों एक साथ कैसे रह सकती हैं ? इसका उदाहरण कुम्भकार के चक्र में देखा जा सकता है । जो बहुत तेज गति से चलता है किन्तु उसका कीलक स्थिर रहता है । कुम्भकार के चक्र का एक भाग आपके निकट आ जाता है और दूसरे क्षण दूर हो जाता है और फिर निकट आ जाता है । अतः यह कहना होगा कि वह दूर भी है और निकट भी है । इसी प्रकार आत्मा की अपेक्षा ब्रह्म निकट है, कर्म की अपेक्षा दूर । पहले दिये गये छः सम्बन्धों को यदि हम देखें तो ब्रह्म से कर्म का सम्बन्ध अनिर्वचनीय कहलायेगा, क्योंकि उसमें गति-स्थिति, दूरता-समीपता इत्यादि विरुद्ध भाव एक साथ हैं ।

### प्रश्न

१. गति और स्थिति दोनों एक ही जगह कैसे रह सकती हैं ?
२. ब्रह्म और कर्म का परस्पर क्या सम्बन्ध है ?
३. घड़े और मिट्टी में परस्पर कार्य और कारण के रूप में कितने प्रकार के सम्बन्ध हैं ?

### स्मरणीय उद्धरण

षोडश पाठवत्

## एकोनविंश पाठ

# यजुर्वेद (चत्वारिंश अध्याय— मन्त्र ६ से अन्त पर्यन्त)

हम कह चुके हैं कि विश्व कर्म है, आत्मा ब्रह्म । इसलिए निम्न छठे मन्त्र में कर्म ब्रह्म में है—यह बताया गया है । तदनन्तर दूसरे मन्त्र में ब्रह्म कर्म में है—यह बताया जायेगा । छठा मन्त्र इस प्रकार है :

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥

जो आत्मतत्त्ववेत्ता सम्पूर्ण भूतों अर्थात् विश्व को आत्मा अर्थात् ब्रह्म में देखता है एवं विश्व में आत्मा को देखता है वह किसी से घृणा नहीं करता ।

यहाँ प्रथम भाग में भूतों का उल्लेख है । ब्रह्म के ही दो रूप हैं—प्रत्यक् और पराक् । प्रत्यक् ब्रह्म अहम् है, पराक् ब्रह्म त्वम् है । अहम् विषयी है, त्वम् विषय है । प्रत्यक् ब्रह्म ज्ञानप्रधान है, पराक् ब्रह्म कर्म—प्रधान । ज्ञान प्रकाश है, कर्म आवरण है । इस प्रकार लौकिक दृष्टि से दोनों परस्पर विरुद्ध हैं । जिसे हम आत्मीय समझते हैं उससे हम राग करते हैं । जिसे हम पराया समझते हैं उससे द्वेष करते हैं । ये दोनों ही दुःख के कारण हैं । हम आत्मीय की प्रशंसा करते हैं और परकीय की निन्दा करते हैं । यही बन्धन का कारण है । प्रस्तुत मन्त्र में सबको आत्मीय समझने की बात कही जा रही है । सबको आत्मीय जान लेने पर किसी की निन्दा की बात हो ही नहीं सकती । वस्तुतः चाहे राग हो चाहे द्वेष, दोनों से मोह उत्पन्न होता है । मोह से काम, काम से क्रोध, क्रोध से सम्मोह, सम्मोह से स्मृतिभ्रंश और स्मृतिभ्रंश से बुद्धिनाश होता है । राग-द्वेष से बचने का उपाय है—सब में आत्मीय भाव । यदि यह आत्मीय भाव आ जाये तो बुद्धिनाश को जन्म देने वाली सारी परम्परा स्वयं ही नष्ट हो जाती है और बुद्धियोग का जन्म होता है ।

कर्म में ब्रह्म तथा ब्रह्म में कर्म अथवा सबमें आत्मा को और आत्मा में सबको देखने की बात कहने पर भी कर्म और ज्ञान में, अपने और पराये में द्वैतभाव बना रहता है । जब तक द्वैत है, तब तक मोह है तब तक शोक है । इसलिए द्वैत का सर्वथा उन्मूलन करने हेतु सातवाँ मन्त्र कहा गया है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

मन्त्र का शब्दार्थ—जिसके लिए सभी भूत आत्मा ही हो गए उस विशिष्ट ज्ञानी के लिए जो एकत्व का दर्शन कर लेता है उसे मोह और शोक कहां ? यह युक्तयोगी की स्थिति है । जब युञ्जान योगी निष्काम कर्म से युक्त-योगी बन जाता है अर्थात् साधक सिद्धावस्था को प्राप्त कर लेता है तो यह समस्त प्रपञ्च उसके लिए आत्मरूप ही हो जाते हैं । जहाँ एकत्व है वहाँ व्यापकता है । जहाँ व्यापकता है, वहाँ कम्प नहीं है । जहाँ कम्प नहीं है, वहाँ भय नहीं है । जहाँ भय नहीं है, वहाँ शोक नहीं है । यहाँ विशेषज्ञानी का अभिप्राय प्रत्यक्ष ज्ञानी से है ।

यहाँ श्रुति ने यह क्रम अपनाया कि ब्रह्म और कर्म में पहले प्रातिभासिक द्वैत का निषेध किया और व्यावहारिक द्वैत की चर्चा की । फिर व्यावहारिक द्वैत से भी श्रुति पारमार्थिक अद्वैत पर ले आई । प्रातिभासिक द्वैत है—मैं भिन्न हूँ दूसरे भिन्न हैं । व्यावहारिक द्वैत है—मैं दूसरों में हूँ दूसरे मुझ में हैं । पारमार्थिक अद्वैत है “सब आत्म रूप ही हैं” । इस प्रकार अव्यक्त आत्मा का वर्णन हुआ ।

ब्रह्म का वह अंश जो जन्मदाता है, शुक्र कहलाता है । यह शुक्र ही सबका उपादान है, इसका वर्णन आठवें मन्त्र में इस प्रकार है

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याधातध्यतोऽर्धान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

शब्दार्थ यह है कि उस कवि, मनीषी सर्वव्यापक स्वयंभू ने कायरहित व्रणरहित स्नायुरहित शुद्ध निष्पाप शुक्र को चारों ओर से घेर लिया तथा इसके बाद उस शुक्र से सदा की भांति पदार्थों का निर्माण किया । इस मन्त्र का यह शाब्दिक अर्थ है । चौथे मन्त्र में यह कहा गया था कि ब्रह्म में मातरिश्वा ने आपः की आहुति दी, वही शुक्र बन गया । शुक्र का अर्थ है उपादान कारण । स्पष्ट है कि विश्व का उपादान कारण क्षर है, अतः क्षर ही शुक्र है ।

शुक्र रेतस् और वीर्य तीनों शब्द सामान्यतः पर्यायवाची समझे जाते हैं, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है । वीर्य वह है जो आत्मबल को बढ़ाता है । इसके तीन भाग हैं—ब्रह्म, क्षत्र और विट् । ब्रह्म वीर्य का सम्बन्ध मन से है, जिसमें यह प्रधान होता है, वह ब्राह्म कहलाता है । क्षत्रवीर्य का ब्रह्म प्राण से है । जिसमें यह प्रधान होता है, वह क्षत्रिय कहलाता है । विट् वीर्य का ब्रह्म वाक् से है । जिसमें यह प्रधान होता है, वह वैश्य कहलाता है । जिसमें पूषा वीर्य अधिक होता है, वह शूद्र कहलाता है । दूसरी ओर शुक्र का सम्बन्ध अग्नि से है, रेत का सम्बन्ध सोम से है । शुक्र का सम्बन्ध स्त्री से है और रेतस् का सम्बन्ध पुरुष से है । ये दोनों मिलकर ही प्रजा की उत्पत्ति करते हैं इसलिए दोनों ही उपादान हैं । कोष में भी शुक्र को अग्नि कहा गया है—सप्तार्चिर्दिमुना शुक्रः । शतपथ में रेतस् को सोम बताया है—रेतो वै सोमः । दोनों के समन्वय से संसार बनता है । यह शुक्र जिसे मन्त्र में अकाय, अव्रण, अस्नाविर और अपापविद्ध कहा गया है कवि, परिभू, स्वयम्भू मातरिश्वा के कारण काय से युक्त हो जाता है क्योंकि मातरिश्वा में स्नेह गुण है और स्नेह गुण से शुक्र की चिति होती है । इसी से वह कार्य रूप में परिणत हो जाता है । इस मातरिश्वा के मन में कामना होती है । यही

उसका मनीषाभाव है । इसी मनीषा के कारण वह विजातीय तत्त्वों का संग्रह करता है । यही व्रण है । उसके मनीषा भाव के कारण ही सृष्टि में व्यवस्था है । वह मातरिश्वा परिभू है । इसलिए वह शुक्र को स्नाविर बना देता है । अर्थात् उसमें केन्द्र उत्पन्न कर देता है । वह स्वयम्भू रूप में पदार्थ को सीमित कर देता है और इस प्रकार पदार्थ को पापविद्ध बना देता है । इस प्रकार उसके कवित्व से अकाय सकाय, मनीषाभाव से अव्रण सव्रण, परिभू भाव से अस्नाविर स्नाविर और स्वयम्भू भाव से अपापविद्ध पापविद्ध हो जाता है । यही सृष्टिकर्ता मातरिश्वा का सृष्टि के उपादान शुक्र को घेरकर सृष्टि को उत्पन्न करने की रीति है । जैसे ही शुक्र मातरिश्वा से अवच्छिन्न होता है, वह परमेष्ठी कहलाता है । जो अधिदैवत में परमेष्ठी है वही अध्यात्म में महानात्मा है । इस प्रकार आपः रेतस् बना, मातरिश्वा रेतोधा बना और परमेष्ठी का उदय हो गया ।

ईशोपनिषद् के ९, १० और ११ वें मन्त्र में सूर्य अथवा बुद्धि का वर्णन है । जो अधिदैवत में सूर्य है, वही अध्यात्म में बुद्धि है । बुद्धियोग की सफलता ज्ञान और कर्म के समन्वय में है । ज्ञान सदा क्रिया के साथ रहता है । कर्म के तीन भेद हैं कर्म, विकर्म और अकर्म, जिनका विस्तार हमने दूसरे मन्त्र की व्याख्या में किया है । ज्ञान के भी तीन भेद हैं ज्ञान, विज्ञान और अज्ञान । ज्ञान का अर्थ है मनोबल, कर्म का अर्थ है प्राणबल । मनोबल ब्रह्म है, प्राण बल क्षत्र है । इन दोनों का समन्वय बुद्धियोग है इसीलिए ईशोपनिषद् के ९, १०, ११ मन्त्र में कर्म और ज्ञान के समन्वय की आवश्यकता बताते हुए कहा गया है :

अम्यं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥

अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया मृतमश्नुते ॥

मन्त्रों का शब्दार्थ बहुत सरल है—जो अविद्या की उपासना करते हैं वे गहरे अन्धकार में जाते हैं । जो केवल विद्या में लगे हैं वे उससे भी गहरे अन्धकार में जाते हैं । विद्या का और फल है अविद्या का और फल है—ऐसा हमने उन धीरों से सुना है जिन्होंने हमें उपदेश दिया । जो विद्या और अविद्या दोनों को जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को, पार करके विद्या से अमृतत्व को प्राप्त करता है ।

ब्रह्म ज्ञान रूप है—यह सरलता से समझ में आ जाता है । किन्तु वास्तविकता यह है कि ब्रह्म कर्म रूप भी है । यदि ब्रह्म कर्म रूप न हो तो उससे सृष्टि की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती । यह सत्य

है कि हर कर्म के पीछे कामना होती है किन्तु हर कामना बन्धन का कारण नहीं है । मन विषयों की कामना करता है, यह बन्धन का कारण है; किन्तु यदि मन की कामनाओं में से कृत्रिम कामनाओं को बुद्धि से विवेकपूर्वक हटा दिया जाता है और केवल स्वाभाविक कामनाओं से प्रेरित होकर कर्म किया जाता है तो कर्म बन्धन का कारण नहीं है । मन चान्द्र है सोममय है स्नेहगुणक है । अतः मन की कामना आसक्ति का कारण बनती है क्योंकि स्नेह आसक्ति उत्पन्न करता है । इसके विपरीत बुद्धि तेजोमयी है । तेज तत्व असङ्ग है । अतः बुद्धियोग से जुड़ी कामना बन्धन का कारण नहीं है ऐसी कामना से प्रेरित होकर किये गये कर्म ही निष्काम कर्म कहलाते हैं । इन निष्काम कर्मों का ही दूसरा नाम यज्ञार्थकर्म है । कर्मयोग के प्रतिपादक ग्रन्थ गीता में कर्म की अनिवार्यता के सात हेतु दिये हैं

१. यदि कर्म छोड़ दिये जायें तो सञ्चित कर्मों की निवृत्ति किस उपाय से होगी । इसलिए गीता में कहा गया है - "न कर्मणामनारम्भानैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।"
२. कर्म के छोड़ने का कोई प्रयोजन नहीं है ।
३. कर्म छोड़ना सम्भव भी नहीं है - "न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत ।"
४. प्रकृतिसिद्ध कर्म अनिवार्य है - "कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।"
५. कर्म का निरोध कर लेने पर भी मन में वैराग्य नहीं होता । परिणाम होता है मिथ्याचार—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।  
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचार स उच्यते ॥

६. अकर्म की अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है - "नियतं कुरु कर्मत्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।"
७. कर्म के बिना जीवनयात्रा सम्भव नहीं - "शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्योदकर्मणः ।"

सूर्य के सन्दर्भ में जो विद्या अविद्या कही जाती है चन्द्रमा के सन्दर्भ में उसे ही सम्भूति और विनाश कहते हैं । सम्भूति का अर्थ है नाम रूप का धारण करना, विनाश का अर्थ है नामरूप का परित्याग । सम्भूति का सम्बन्ध बल से है । रस से विभूति होती है । न रस की उपेक्षा करनी चाहिए न बल की । यही बात ईशोपनिषद् के १२ वें, १३ वें और १४ वें मन्त्र में बताई गई है

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात् ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ॥

संभूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयं सह ।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभृत्यामृतमश्नुते ॥

इन तीन मन्त्रों में वही बात कही गई है जो पहले ९ वें, १० वें, ११ वें मन्त्र में कही गई थी । अन्तर केवल इतना है कि यहां अविद्या के स्थान पर असम्भूति और विद्या के स्थान पर सम्भूति शब्दों का प्रयोग किया है । १४ वें मन्त्र में असम्भूति के स्थान पर विनाश प्रयोग है । विद्या अविद्या का सम्बन्ध ज्ञान से है । सम्भूति असम्भूति का सम्बन्ध उत्पत्ति से है । वस्तुतः विद्या-अविद्या या सम्भूति-विनाश के द्वन्द्व के आठ रूप हैं—

१. मूल द्वन्द्व रस बल का है ।
२. संसार की स्थिति में यही द्वन्द्व अमृत और मृत्यु के रूप में आता है ।
३. स्वयम्भू के स्तर पर यही द्वन्द्व स्थिति-गति है ।
४. परमेष्ठी के स्तर पर यह स्नेह-तेज का द्वन्द्व है ।
५. सूर्य के स्तर पर यह विद्या-अविद्या है ।
६. चन्द्रमा के स्तर पर यही द्वन्द्व संभूति-विनाश है ।
७. जीव के स्तर पर यह द्वन्द्व ज्ञान और कर्म है ।
८. भू-पिण्ड के स्तर पर यही द्वन्द्व देवता और भूत के रूप में प्रकट होता है ।

क्योंकि सृष्टि के मूल में रस और बल दोनों है और क्योंकि सृष्टि में भी मृत्यु और अमृत दोनों भाव हैं इसलिए वेद बुद्धि के स्तर पर विद्या अविद्या तथा मन के स्तर पर संभूति तथा विनाश के समन्वय की बात करता है । वेद की यही समन्वित दृष्टि चार पुरुषार्थों में परिणत हो जाती है । बल से जुड़े हैं अर्थ और काम पुरुषार्थ तथा रस से जुड़े हैं धर्म और मोक्ष ।

विज्ञानात्मा और प्रज्ञानात्मा का वर्णन करने के अनन्तर उपनिषद् १५, १६, १७ वें मन्त्र के प्रारम्भिक भाग में भूतात्मा का वर्णन करता है

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

पूषन्नेकर्षं यम-सूर्य-प्राजापत्यं व्यूह रश्मीन् ।

समूह तेजो, यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ॥

योऽसावसौ पुरुषः सोहमस्मि ।

वाथुरनितममृतम्— ॥

इन मन्त्रों में भूतात्मा का वर्णन है । अब तक अव्यक्त, महत्, विज्ञान और प्रज्ञानात्मा का वर्णन हो चुका । परमात्मा साक्षी है, जीव भोक्ता है । जीव में भी भोगने वाला केवल भोक्तात्मा ही है । विश्व में अव्यक्तात्मा का सम्बन्ध स्वयम्भू से, महानात्मा का सम्बन्ध परमेष्ठी से, विज्ञानात्मा का सम्बन्ध सूर्य से, प्रज्ञानात्मा का सम्बन्ध चन्द्रमा से और भोक्तात्मा का सम्बन्ध पृथिवी से है । इन मन्त्रों में उसी भोक्तात्मा का वर्णन है । इस भोक्तात्मा के प्राज्ञ, तैजस और वैश्वानर तीन भाग हैं । ईश्वर के भी तीन भाग हैं सर्वज्ञ, हिरण्यगर्भ और वैश्वानर । अन्तर इतना है कि ईश्वर कर्म साक्षी है, जीव कर्म भोक्ता है । क्योंकि प्राज्ञ, तैजस और वैश्वानर का सम्बन्ध आदित्य, वायु और अग्नि से है इसलिए इसे देवसत्यात्मा भी कहा जाता है । इस देवसत्यात्मा को यह उपदेश दिया गया है कि वह पूषन् अर्थात् पृथिवी के अभिमानी देवता से यह प्रार्थना करे कि हिरण्यमयपात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है । हे पूषा देवता ! सत्य धर्म की दृष्टि के लिए आप उस आवरण को हटाइये । पूषा भौतिक सम्पत्ति का देवता है । इसलिए वही भौतिक सम्पत्ति के आवरण को दूर कर सकता है । पूषा किस प्रकार आवरण को हटाता है—इसका वर्णन करते हुए श्रुति में कहा गया है कि हे पूषा ! तुम एकर्षि हो, यम हो, सूर्य हो, प्रजापति के पुत्र हो । आप अपनी रश्मियों को फैलाइये । तेज को समेटिये । मैं आपका कल्याणतम रूप देखना चाहता हूँ जो सौर हिरण्यमय पुरुष है वह मैं हूँ । यहां एकर्षि शब्द के द्वारा पृथिवी, यम के द्वारा अन्तरिक्ष और सूर्य के द्वारा द्युलोक का बोध होता है । प्रजापति इन तीनों का केन्द्र है । सप्त ऋषियों में दो श्रोत्रों के दो ऋषि हैं—गौतम और भरद्वाज दो चक्षुओं के दो ऋषि हैं—विश्वामित्र और जमदग्नि । दो नासिकाओं के दो ऋषि हैं—वशिष्ठ और कश्यप । सातवीं वाक् का एक ही ऋषि है—अत्रि । यह पूषा भौतिक पक्ष का देवता होने के कारण एकर्षि कहलाता है क्योंकि समस्त भूत वाक् है और वाक् ही अत्रि है - वागेवात्रिः । इसी पूषा के सम्बन्ध के कारण पृथिवी को पूषा कहा जाता है । यह पूषा ही शुक्र के रूप में तरल है, किन्तु हिरण्यमय तेज घन है । इस तेज के सम्पर्क से ही हमारे घन भाग का निर्माण होता है ।

कहा जा सकता है कि यदि पूषा पृथिवी है तो उसे अन्तरिक्ष के यम और दिव्य सूर्य से कैसे जोड़ा गया ? उत्तर यह है कि पूषा केवल पृथिवी ही नहीं है वायु और सूर्य भी है । इस प्रकार पूषा त्रिलोक में व्याप्त है । इसके कल्याणतम रूप को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इसके ही वाक् रूप से भूत, आन्तरिक्ष्य रूप से प्राण और दिव्य रूप से मन बनता है । और यह सब अमृत रूप है ।

इसके अतिरिक्त शरीर भस्म है—अथेदं भस्मान्तं शरीरम् । इस भस्मान्त शरीर में ही दिव्यता का बोध करना है । मनुष्य को चाहिये कि जो उसके करने का संकल्प है तथा जो उसने किया है उसे सदा याद रखे - ओं क्रतो स्मर, कृतं स्मर, क्रतो स्मर, कृतं स्मर । इस स्मरण से उसके सङ्कल्प और कर्म में एकरूपता आ जायेगी और यही कल्याण का मार्ग है ।

प्राज्ञ, तैजस और वैश्वानर तीनों ही वस्तुतः अग्नि के घन तरल तथा विरल रूप हैं । इसलिए उपनिषद् के अन्त में अग्नि से ही प्रार्थना की गई है—



अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्ति विधेम ॥

अर्थात् हे अग्ने ! हमें सन्मार्ग से ले चलो । हम तुम्हें बारम्बार नमस्कार करते हैं । हमें कुटिल पापों से बचाओ । तुम समस्त विश्व को जानते हो ।

यहाँ विश्व के लिए वयुन शब्द का प्रयोग है । वस्तु के दो भाग हैं एक स्वयं वस्तु और एक उसका आकार । आकार को वयोनाथ कहते हैं वस्तु को वयः । वयः और वयोनाथ को मिलाकर वयुन कहा जाता है । इन वयुनों का समूह ही विश्व है । उसको जानने वाला अग्नि है । हम उसी को नमस्कार करते हैं ।

उपनिषद् की समाप्ति उसी मन्त्र से होती है जिस मन्त्र से उसका प्रारम्भ हुआ था । इस मन्त्र की व्याख्या हम प्रारम्भ में ही कर चुके हैं; अतः पुनः व्याख्या की आवश्यकता नहीं है—

ओं पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

### प्रश्न

१. राग और द्वेष से कैसे मुक्त हुआ जा सकता है ?
२. एकत्व के जान लेने का क्या फल है ?
३. कर्म क्यों नहीं छोड़ने चाहिये ?
४. द्वन्द्व के आठ प्रकार कौन से हैं ?
५. पूषा का क्या स्वरूप है ?
६. अग्नि की क्या विशेषता है ?

### स्मरणीय उद्धरण

#### षोडश पाठवत्

टिप्पणी : इस पाठ में जिन मन्त्रों पर स्वर-चिह्न नहीं हैं, वे अंश ईशोपनिषद् में हैं, किन्तु यजुर्वेद में नहीं हैं ।